भारत की चित्रकला

राय कृष्णदास

भारती भंडार
लीडर प्रेस, प्रयाग

भारत की चित्रकला

कलानां प्रवरं चित्रम्

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण

राय कृष्णदास

भारतीय दर्पण ग्रंथमाला

ग्रंथ संख्या ४

भारती भंडार, प्रयाग

२००७

प्रथम संस्करण—१९९६ वि०

द्वितीय संस्करण—२००७ वि० मूल्य ८)

मुद्रक—राय आनन्दकृष्ण,

शारदा मुद्रण, बनारस

प्रथम संस्करण वाला निवेदन

'भारत की चित्रकला' और 'भारतीय मूर्तिकला' संबद्ध प्रकाशन हैं। अतएव ये संग पठनीय तो हैं ही, इनके 'निवेदन' का विषय भी बहुत कुछ एक है। जैसे, पुस्तक का गड्डमड्डपन; 'इतिहास-प्रवेश' से सहायता लेने के लिये भाई जयचंद्र को धन्यवाद; ऐतिहासिक और सांस्कृतिक काल-विभाजन का सामंजस्य एवं जल्दी में त्रुटियों का रह जाना, (जिसका ज्वलंत उदाहरण है—ई० तीसरी शती के चित्र तथा धर्माचार्य मानी को उत्तर मध्यकाल में पहुँचा देना; पृष्ठ ९१) इत्यादि।

ऐसी बातों का पुनः पल्लवन अपेक्षित नहीं। हाँ, यह बताना आवश्यक है कि अपनी चित्रकला के इतिहास तथा वर्गीकरण विषयक प्रचलित सिद्धांतों से कतिपय भिन्न मत एवं कुछ समस्याओं के प्रस्तावित हल प्रस्तुत पुस्तक में पाए जायँगे। इनके लिये लेखक जिम्मेदार है। १९१०-११ से जाँच-पड़ताल करते करते वह इन निष्कर्षों पर पहुँचा है, और जब तक ये इदमित्थं सत्य के रूप में उसे प्रत्यक्ष नहीं हो गए, तब तक इन्हें स्वीकार करने में हिचकता रहा है। इनमें की कुछ बातें ऐसी हैं जो उस्ताद रामप्रसाद की पारंपरीण अनुश्रुतियों से प्राप्त हुई हैं। आरंभ में लेखक को यह पता न था कि अपनी चित्रकला के इतिहास में उनका क्या महत्त्व है, किन्तु अध्ययन के साथ साथ वह महत्त्व प्रकट होता गया।

ये निष्कर्ष §§ २५, २५ क-ग, २७, २८, २९ क-ख, ३०, ३४, ३५ क-ख-४, ३७, ३८ क, ४० ग-घ, ४२, ४३, ४८, ४९, ५० एवं ५१ में निहित हैं। विद्वानों और विचारकों से प्रार्थना है कि इनके विमर्षपूर्वक कोई एक सिद्धांत निश्चित करें।

अन्य पाठकों को भी ये बातें बता देनी आवश्यक थीं, क्योंकि इस विषय के अधिक अध्ययन में ये सहायक होंगी। उन्हें इन पर स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए और खोज को आगे बढ़ाने में हाथ बँटाना चाहिए।

इसका अजंतावाला अंश अधिकतर श्री रविशंकर रावल के **अजंता के चित्र-मंडप** पर अवलंबित है, जिसके लिये लेखक हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता है। अकबर कालीन शोध के लिये डा० परमात्माशरण तथा श्री व्रजरत्नदास ने मूल फारसी अवतरण निकालने में जो सहायता दी है तदर्थ वह उनका आभारी है।

'चित्रकला' के इस संस्करण में एक रंगीन और सत्ताईस सादे चित्र दिए जा रहे हैं। इनमें से मुख-चित्र के लिये प्रवासी प्रेस, कलकत्ता को और फलक—२ तथा ७-क, ७-ख

तथा १२ एवं ९ तथा २४ के लिये यथानुक्रम सरस्वती पब्लिशिंग हाउस, प्रयाग; गीता प्रेस, गोरखपुर; और इंडियन प्रेस, प्रयाग को धन्यवाद है।

काशी, —लेखक

अधिक श्रावण शु० ११, १९९६

पुनश्च—पहले संस्करण में कला-भवन के सहायक संग्रहाध्यक्ष श्री विजय कृष्ण ने पुस्तक की तैयारी में विशेष सहायता दी; इसी प्रकार स्व० शंभुनारायण चतुर्वेदी तथा श्री शंभुनाथ वाजपेयी ने कापी प्रस्तुत करने में परिश्रम किया था। श्री लल्लीप्रसादजी पांडेय के हार्दिक और सक्रिय सहयोग के बिना वह संस्करण न जाने कब निकल पाता एवं उसमें भाषा तथा प्रूफ की न जाने कितनी भूलें रह जातीं।

पुस्तक की वर्तमान परिष्कृति में लेखक के पुत्र चि० आनन्दकृष्ण का विशेष हाथ है जिसके लिये लेखक का साशिष आभार है।

इस संस्करण में तीन रंगीन और कई सादे चित्र बढ़ा दिये गये हैं और आवश्यकतानुसार ग्रन्थ में भी परिवर्त्तन और परिवर्धन कर दिया गया है।

फलकों का उल्लेख

फलक संख्या	पृ० सं०	§ संख्या
१	३	§ २ तथा वार्त्तिक
२	३	§ २ तथा वार्त्तिक
३	१८	§ १६
४	१८	§ १६
५	१७	§ १६
६ क	२३	§ २०
६ ख	२३	§ २०
७ क	३२	§ २२
७ ख	३१,४४	§ २२,§२३
८ क, ख	३९	§ २५ ख
८ ग	४३,	§ २५ख,
९	५९	§ २९ ख तथा वार्त्तिक
१०	७६	§ ३५ ख ३
११	७४	§ ३५ ख २
१२	८२, ८४	§ ४०, § ४० ख
१३	८२, ८४	§ ४०, § ४० ख
१४	९१	§ ४२
१५	९१	§ ४२
१६	९२	§ ४४
१७	९१	§ ४४
१८	९४	§ ४५
१९	९४	§ ४५
२०	९६	§ ४६
२१	९६	§ ४६
२२	१००	§ ४९
२३	१०१	§ ४९
२४	१०१	§ ४९
२५	१०४	§ ५३
२६	१०५	§ ५४
२७	१०५	§ ५४

फलक	पृष्ठ संख्या	संख्या
*१	३७	§ २५
*२ (मुखचित्र)	१००	§ ४९
*३	९६	§ ४७
*४	१०५	§ ४९

तालिका

भारतीय चित्रों के मुख्य संग्रहालय

इलाहाबाद, म्यूनिसिपल संग्रहालय; औंध, राजकीय संग्रहालय; कलकत्ता—इंडियन संग्रहालय, बंगीय साहित्य परिषद्, विक्टोरिया मेमोरियल हॉल; चंबा; भूरीसिंह संग्रहालय; त्रिवेंद्रम्, श्री चित्रालयम्; दिल्ली—आर्किऑलॉजिकल तथा सेंट्रल एशियन संग्रहालय; पटना—खुदाबख्श पुस्तकालय, पटना संग्रहालय; पूना, भारतीय इतिहास संशोधक मंडल; बंबई—प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय; बड़ौदा, राजकीय संग्रहालय; बनारस, भारत कला-भवन; बोलपुर, कला-भवन (शांति-निकेतन); लाहौर, केंद्रीय संग्रहालय ।

ऑक्सफर्ड, बॉड्लियन पुस्तकालय; न्यूयार्क, मेट्रोपोलिटन संग्रहालय; पेरिस, राष्ट्रीय पुस्तकालय तथा लूव्र संग्रहालय; बर्लिन, राजकीय पुस्कालय; बोस्टन संग्रहालय; लंदन, इंडिया आफिस, ब्रिटिश संग्रहालय, साउथ केंसिंग्टन संग्रहालय; वॉशिंगटन, फ्रीर आर्ट गैलरी ।

भारतीय चित्रों के मुख्य निजी संग्रह

अहमदाबाद, श्री कस्तूर भाई लाल भाई; कलकत्ता, श्री अजित घोष, श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री बहादुरसिंह सिंघी; पटना, श्री दीवान बहादुर सेठ राधाकृष्ण जालान, श्रीगोपीकृष्ण कानोडिया; बंबई, अर्देशिर संग्रह, सर कावसजी जहाँगीर संग्रह; बनारस, श्री सीताराम साहसग्रह, रामपुर, राज्य पुस्तकालय लाहौर, श्री समरेन्द्र नाथ गुप्त; हैदराबाद (दकन), सर सालार जंग संग्रह । लंदन—श्री चेस्टर बेटी ।

द्रष्टव्य तथा सहायक ग्रंथ

इंडिया सोसाइटी, लंदन—

बाघ केव्ज़, १९२७

कुमारस्वामी; आनंद के०,—

इंडियन ड्रॉइंग्स, २ भाग; लंदन

बोस्टन सग्रहालय कैटलॉग, भाग ५ (राजपूत चित्र). बोस्टन. १९२६

बोस्टन संग्रहालय केटलॉग, भाग ६ (मुगल चित्र), बोस्टन, १९३०

राजपूत पेंटिंग, दो भाग; लंदन

हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, लंदन, १९२७

क्लार्क; सी० स्टैनले,—

इंडियन ड्रॉइंग्ज, लंदन, १९२१ (हम्जा चित्रावली)

,, ,, ,, ,, (वैंटेज प्रदान)

जयचंद्र विद्यालंकार,—

इतिहास-प्रवेश, प्रयाग, १९३८

ब्लुकिन; इवैन,—

मुगल कला विषयक फ्रेंच पुस्तक, पेरिस, १९२९

देवीप्रसाद; मुंशी,—

जहाँगीरनामा, कलकत्ता, १९०५

नवाब; साराभाई मणिलाल—

जैन चित्र-कल्पद्रुम, अहमदाबाद, १९३६

बेनियन; लारेंस,—

कोर्ट पेंटर्स ऑव द ग्रैंड मुगल्स; ऑक्सफर्ड, १९२१

ब्राउन; पर्सी,—

इंडियन पेंटिंग अंडर द मुगल्स; ऑक्सफर्ड, १९२४

इंडियन पेंटिंग

मेहता; न्हानालाल चमनलाल,—

स्टडीज़ इन इंडियन पेंटिंग, बंबई

भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, १९३३

मोतीचंद्र; डा०,—

वेस्टर्न इंडियन स्कूल ऑव पेंटिंग, बंबई, १९४९

रावल; रविशंकर महाशंकर—

अजंता के कलामंडप, अहमदाबाद, १९३७,

स्मिथ; विंसेंट,—

ऐ हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन, ऑक्सफर्ड, १६३०.

हेरिंघम; लेडी,—

अजंता फ्रेस्कोज़

हैवेल; ई० बी०,—

इंडियन स्कल्प्चर ऐंड पेंटिंग, लंदन, १९०८

निर्देश

ना० प्र० प० (नवीन) — नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण

स्मिथ — ऐ हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन

पारिभाषिक शब्द

(जिनकी व्याख्या यथास्थान नहीं दी गई है)

सं०= संज्ञा, वि०= विशेषण, क्रि०= क्रिया

अभिप्राय—सं० कोई चल वा अचल, सजीव वा निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलंकृत एवं अतिरंजित आकृति, मुख्यतः सजावट के लिये किसी कला-कृति में बनाई जाय (मोटिफ़)।

अस्तर बट्टी—सं० (अस्तर + बट्टी) अस्तर, वह मसाला जिससे जमीन बाँधी जाय; बट्टी, उस जमीन को घोट कर बराबर करने के लिये चिकने पत्थर की बट्टी।

आदम-कद—वि० आदमी की ऊँचाई के बराबर कोई चित्र वा मूर्ति।

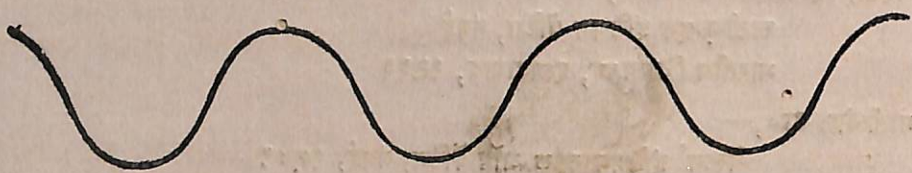
आलेखन—सं० चित्रविन्यास, लिखाई। क्रि० चित्र अंकित करना।

उरेहना—क्रि० चित्र अंकित करना।

कलम—सं० गिलहरी की पूँछ के रोएँ से बना आलेखन का उपकरण (ब्रश), आलेखन—शैली।

कुनियाँ, कोनियाँ—सं० किसी चतुष्कोण कृति में चारों कोने का अलंकरण।

गोमूत्रिका—सं० निम्न आकृति की बेल। बैल जब चलता रहता है तो उसके मूत्र का चिह्न उक्त आकार का पड़ता है। बैल मूतनी, बरद मुतान।



चेहरई—सं० चेहरे की रंगत।

जमीन—सं० चित्र लिखने के लिये अस्तर की हुई उपयुक्त सतह। क्रि० जमीन बाँधना, अस्तर लगा कर जमीन तैयार करना।

झलक—सं० वह प्रधान रंगत (= आभा) जो समूचे चित्र में व्याप्त हो।

टपरना—क्रि० पत्थर को टाँकी की चोट से खुरदरा बनाना।

तरह—सं० रचना-प्रकार, आलंकारिक अंकन (डिज़ाइन)।

दमखम—सं० जानदार—बिना टूटवाली, एवं गोलाई लिये—वंकिम (मूर्ति की गढ़न वा चित्र की रेखाएँ)।

दृष्टिक्रम, दृष्टि परंपरा, दृष्टि सरणि—सं० दर्शक को यथाक्रम एक के बाद दूसरी वस्तु दीख पड़ने की अभिव्यक्ति (पर्सपेक्टिव)।

परदाज—सं० अभीष्ट रंगत लाने वा साट को मिटाने के लिये इतने पास पास लिखे महीन बिंदु कि वे एक जान पड़ें और उनसे अभीष्ट परिणाम निकल आवे।

पृष्ठिका—सं० किसी मूर्ति वा चित्र में दिखाया सबसे पीछे का भाग जो अंकित दृश्य वा घटना का आश्रय होता है (बैक् ग्राउंड)।

मोहरा—सं० **ओपनी**, एशब वा अकीक पत्थर की एक छोटी-सी गुल्ली जिससे रगड़ कर चित्र पर के सोने-चाँदी को ओपते वा चमकाते हैं। क्रि० मोहरा करना,—मोहरे से घोंट कर ओप पैदा करना।

रेखांकण—सं० रेखाचित्र (ड्रॉइंग)।

लिखाई—सं० चित्र-विन्यास, चित्रांकण की क्रिया का भाव।

वजन—सं० भार, वह अधिकता जिसके कारण चित्र का एक अंग दूसरे से न्यून या विषम हो जाय।

वर्णिका—सं० अमुक-अमुक रंगों का समवाय जो किसी चित्र वा शैली में विशेष रूप से बरता जाय। देखिए **वर्णिकाभंग** § ५।

शबाहत—सं० किसी रूप की विशेषताएँ।

शबीह—सं० व्यक्तिचित्र, किसी रूप का तद्वत् अंकन।

शैली—सं० **कलम**, चित्रों का कोई वर्ग जिनकी विशेषताओं में अंकन सिद्धांत एवं चित्रकारों की मनोवृत्ति की एकता के कारण साम्य हो।

संयोजन—सं० किसी अंकन में प्रभाव एवं रमणीयता उत्पन्न करने के लिये आकृतियों को ठीक ठिकाने 'बैठाना' (= जुड़ाना)।

हमवजन—सं० भारसाम्य, संतोल चित्र के सब अंगों में समानता।

उस्ताद रामप्रसाद

को

'बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो दिखाय'



प्रज्ञा पारमिता का एक चित्रित पृष्ठ
१२वीं शती ; पाल-शैली

भारत की चित्रकला

पहला अध्याय

§ १. **परिभाषा**—किसी एक तल (सतह) पर, जो सम हो—यह समता खमदार भी हो सकती है (जैसे कुम्भ आदि का बाहरी भाग और कटोरी, रकाबी आदि का भीतरी भाग एवं लदावदार पाटन आदि)—पानी, तेल किंवा अन्य माध्यम में घोले अथवा सूखे एक वा एकाधिक रंग की रेखा एवं रंगामेजी द्वारा किसी रमणीय आकृति के अंकन को और उसी प्रसंग में निम्नोन्नत तथा एकाधिक तल और पहलू (= देशकाल) दरसाने को चित्रण कहते हैं और ऐसी प्रस्तुत वस्तु को चित्र। उक्त आधारभूत सतह मुख्यतः भित्ति (= दीवार, भीत) पत्थर, काठ, पकाई या कच्ची मिट्टी के पात्र वा फलक, हाथीदाँत, चमड़ा, कपड़ा, तालपत्र वा कागद होती है।

प्राचीन भारत में विशेषतः भित्ति पर चित्रण होता था अतः चित्र के किसी भी आधारभूत सतह को भित्ति कहते थे। अर्थात्, ऐसी सतह के लिए अपना परिभाषिक शब्द **भित्ति** है।

§ २. **प्रागैतिहासिक और प्रत्यगैतिहासिक काल, मोहनजोदड़ो आदि**—चित्रण की प्रवृत्ति मनुष्य में उस समय से है जब वह वनौकस था। अपना सांस्कृतिक विकास करने के लिये उसने संस्कृति के जिन अंगों से श्रीगणेश किया था उनमें चित्रकला भी एक थी। निदान, संसार भर में आदिम मनुष्य के—वनवासी गुहा-गृही मनुष्य के—अंकित चित्र मिलते हैं। इनका सिलसिला उस समय से चलता है जब वह धातुओं का व्यवहार तक न जानता था और कड़े पत्थरों के अनगढ़ शस्त्रों और औजारों से काम लेता था किन्तु उसके राजनीतिक इतिहास का आरम्भ न हुआ था। इस जमाने का आरम्भ आज से दस बारह हजार बरस पूर्व वा, कुछ विद्वानों के मत से, लगभग चालीस हजार बरस पूर्व हुआ था।

ये चित्र विषय, शैली तथा सामग्री की दृष्टि से उस समय के मानव-जीवन के प्रतीक हैं। अर्थात् इनके विषय मुख्यतः जानवर, उनका आखेट करते हुए मनुष्य, आपस में युद्ध करते हुए मनुष्य एवं पूजनीय आकृतियाँ हैं। इनकी शैली आदिम है। इनकी सामग्री धातु-रंग, (= खनिज रंग, मुख्यतः गेरू, रामरज, हिरौंजी) है तथा इनके स्थान उक्त गुहा-गृह एवं खुली चट्टानें हैं।

इनमें मुख्यतः दो मनोवृत्तियाँ पाई जाती हैं—१-अपने इर्दगिर्द के जगत् की स्मृति एवं उस पर अपनी विजय का इतिहास बनाए रखना; अथच २-अपनी अमूर्त भावना को मूर्त रूप प्रदान करना। इस अमूर्त भावना को मूर्त करने वाली वृत्ति के भीतर जादू, टोना, टोटका भी आ जाता है जिसमें उस समय से लेकर आज तक चित्र का उपयोग होता आया है। देखा जाय तो ये ही दोनों मनोवृत्तियाँ समूची मानव-उन्नति की मूल हैं।

ई० पू० ३सरी ४थी सहस्राब्दी में चीन के पीत नद से लेकर लघु एशिया तक और इधर भारत तक एक ऐसी मानव सभ्यता फैली हुई थी जिसे आजकल के पुरातत्त्ववेत्ता पकाई मिट्टी के रंगे बर्तनों की सभ्यता कहते हैं। यह **प्रत्यगैतिहासिक काल** कहा जाता है, जब मानव सभ्यता का इतिहास, जिसका उद्धार अभी तक की खोज से नहीं हुआ है, प्रारम्भ हो चुका था।

उक्त क्षेत्रों में जो मानव-समाज रहते थे उनके अभिजन में तथा सभ्यता की अन्य बातों में चाहे जितनी भिन्नता रही हो, किंतु इस बात में वे एक थे कि वे अपने पकाई मिट्टी के बर्तनों को बड़ी सुन्दर **तरहों** से अलंकृत करते थे। इन **तरहों** में से कितनी तो ऐसी हैं जिनमें कला अपनी आरम्भिक अवस्था में है। किंतु अनेक ऐसी भी हैं जो आज के **तरहों** से किसी बात में पिछड़ी नहीं हैं, कुछ तो ऐसी हैं जो एक पग आगे बढ़ी हैं।

भारत में इस कला के प्रतिनिधि नाल (बलूचिस्तान) तथा सिंध काँठे के मोहन-जोदड़ो, हड़पा और चानूदड़ो में पाए गए मिट्टी के बर्तन हैं। ऐसा अनुमान होता है कि यह संस्कृति गंगा-यमुना और नर्मदा के काँठों तक फैली हुई थी। इन बर्तनों में से कुछ तो गृहस्थी के कामों में आते थे और कुछ में शव गाड़े जाते थे। इन्हें देखने से जान पड़ता है कि उन जातियों का कला प्रेम इतना बढ़ा हुआ था कि वे अपने रोज के बर्ते जानेवाले पात्रों को भी सादा न देख सकते थे एवं कला उनके जीवन ही नहीं, मरण तक की संगिनी थी।

इन पात्रों पर की **तरहों** में ज्यामितिक आकृतियों की अर्थात् सरल रेखाओं, कोणों, वृत्तों और वृत्तांशों से बने अलंकरणों की अधिकता है। इनके सिवा फूलों, पत्तियों और पशु-पक्षियों की आकृतियों का भी उपयोग किया गया है। मुख्यतः पशु-पक्षियों की आकृतियों से ही इस कला की आरम्भिकता प्रकट होती है। इन **तरहों** में से कुछ ऐसी हैं जिनकी परम्परा भारतीय कला में बनी रही है। शेष में से अनेक ऐसी हैं जिनकी परम्परा फिर से चलाने की आवश्यकता है, उनके सौन्दर्य के कारण।

अभी तक मोहनजोदड़ो आदि के इतिहास का पता नहीं लगा है। फिर भी ऐसा संभव नहीं कि वहाँ की लुप्त सभ्यता का हमारी सभ्यता से कोई संबंध न रहा हो। उस संस्कृति का दाय हमारी संस्कृति में निश्चित रूप से चला आ रहा है।

§ ३. **चित्र के प्राचीन उल्लेख**—ऋग्वेद (१ । १४५) में चमड़े पर बने अग्नि के चित्र की चर्चा है। इससे हमारी चित्रकला की परम्परा उस काल से प्रमाणित होती है। पाणिनि ने संघ-राज्यों (पंचायती राज्यों) के अंक और लक्षणों की चर्चा की है। इन लक्षणों से उन राज्यों के चिह्नों का मतलब है जो पशु, पक्षी, पुष्प, वा नदी, पर्वत आदि होते थे। इसी प्रकार उन्होंने पशुओं को चिह्नित करने के लिये कुछ लक्षणों की चर्चा की है। ये सब लक्षण बिना **रेखांकण** (ड्राइंग) के नहीं बन सकते। अतएव पाणिनि के समय में भी, जिनका काल कुछ विद्वान् ई० पू० ८ वीं शती और कुछ ई० पू० ४-५ वीं शती मानते हैं, चित्रों का पर्याप्त प्रचार रहा होगा। बुद्ध के समय में चित्रकला का इतना प्रचार था कि उन्हें अपने अनुयायियों को उसमें न प्रवृत्त होने की आज्ञा देनी पड़ी। ३सरी-४थी शती ई० पू० के बौद्ध ग्रन्थ विनय-पिटक तथा थेर-थेरी गाथा में चित्रों का उल्लेख है किंतु उस समय के नमूने अभी तक नहीं मिले हैं। केवल एक नमूना मिला है जो न मिलने के बराबर है (§७)। परन्तु ई० पू० २सरी शती और उसके बाद से चित्रों के उल्लेखों और नमूनों की संख्या बढ़ने लगती है। उनकी चर्चा में प्रवृत्त होने के पहले, यहाँ पर थोड़े में अपने यहाँ के चित्र-विषयक सिद्धांत, चित्रों के भेद एवं उनका उद्देश्य बता देना आवश्यक है।

§ ४. **चित्र के छः अंग**—वात्स्यायन के कामसूत्र पर यशोधर नामक एक प्राचीन विद्वान् की टीका है। उसमें चित्र-कला की व्याख्या करते हुए उसने पहले का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें चित्रकला के छः अंग बतलाए गए हैं, यथा—१-रूपभेद २-प्रमाण ३-भाव ४-लावण्य-योजना ५ सादृश्य तथा ६-वर्णिकाभंग। इन छः अंगों की सूक्ष्म व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

१—**रूपभेद**—हर प्रकार की आकृतियों और उनकी विशेषताओं का विभेद। इसमें मानव-आकृति के लक्षण तथा अभिजात भी सम्मिलित हैं। लक्षण से तात्पर्य हिंदू सामुद्रिक की उन विशेषताओं से है जिनके होने से मनुष्य राजा, महापुरुष, योगी वा योद्धा इत्यादि होता है।

२—**प्रमाण**—इसे मुगल शैली के भारतीय चित्रकार **अंग-कद** वा **कद-कैंड़ा** कहते हैं। कद का तात्पर्य यह हुआ कि स्त्री का सारा शरीर उसके चेहरे की नाप से सतगुने से अधिक न होना चाहिए। इसी प्रकार पुरुष का अठगुने से अधिक नहीं। कैंड़े का तात्पर्य यह है कि अंगों में समविभक्तता हो, यह नहीं कि आँख बहुत बड़ी या छोटी नाक बहुत लम्बी या चिपटी इत्यादि। साथ ही कद के अनुपात में वे बड़े छोटे न हों। प्राचीन चित्रकारी में देवतादि तथा उच्च एवं नीच वर्गों के मनुष्यों के कदों का हिसाब अलग-अलग रखा है।

३—**भाव**—यह भारतीय चित्रकारी की सर्वप्रधान विशेषता है, अतएव इस पर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता है—कालिदास के मेघदूत का विरही यक्ष मेघ से कहता है कि संभवतः तुम मेरी पत्नी को मेरा भावगम्य चित्र बनाती हुई पाओगे। यहाँ भाव का तात्पर्य यह हुआ कि वह अपने बिछुड़े हुए पति का स्मृति-चित्र नहीं बना रही थी बल्कि उसकी अंतर्वृत्ति की पहुँच (गम), उसके अंतर्नयन की दृष्टि, उसकी कल्पना की उड़ान यक्ष की वियोगजनित मानसिक और शारीरिक दशा तक थी और उसे ही वह अंकित कर रही थी। स्मृति-चित्र और भावचित्र के इस सूक्ष्म भेद को भली भाँति समझ लेना चाहिए। भाव-चित्र में चित्रकार (भावुक) और चित्र के विषय (भाव्य) की, कल्पना के द्वारा एकतानता हो जाती है। इस एकतानता से चित्र में जो बात पैदा होती है वही है भाव। अर्थात् चित्रकार, चित्रित किए जानेवाले विषय की सम्यक् अनुभूति और उसके प्रति सम्यक् सहानुभूति के कारण, उसकी ऐसी आकृति अंकित करने में समर्थ होता है जिसमें बाह्य सादृश्य ही नहीं अंतस्तल का, अर्थात् स्थूल शरीर का ही नहीं प्रत्युत सूक्ष्म शरीर का **आलेखन** भी होता है। अपने यहाँ के चित्रकारों को यह सिद्धान्त अभी तक इस रूप में याद है कि—चित्र में भाव रहे, चेष्टा न रहे। चेष्टा से यहाँ चेष्टित (बनावट) का तात्पर्य है। उस्ताद रामप्रसाद इस अंतर की व्याख्या एक उदाहरण द्वारा किया करते थे—मान लीजिए कि

राम-निषाद-मिलन का एक चित्र है। यदि देखने वाले पर उसका यह प्रभाव पड़ता है कि गुह सच्ची भक्ति-भावना और दीनता से भगवान् का स्वागत कर रहा है कि आज मुझे भव-सागर से पार कर देने वाला आ गया तो समझना चाहिए कि चित्रकार भाव के अंकन में समर्थ हुआ है। किंतु यदि चित्र देखने में ऐसा लगता है कि निषाद गिड़गिड़ा कर आव-भगत तो कर रहा है लेकिन मौका पाते ही वह रामचंद्र को मूस-मास कर किस्सा खतम कर देगा तो यह चित्र में भाव नहीं, चेष्टा हुई। अर्थात् पहले में उसकी मनोवृत्ति का भी अंकन रहता है और दूसरे में केवल उसके अभिनय का। अन्य शब्दों में, पहले में चित्रकार की अनुभूति गुह की मनोवृत्ति का, साक्षात्कार करके उसे व्यक्त करने में समर्थ होती है किंतु दूसरे में उसकी पहुँच केवल निषाद के अभिनय तक रह जाती है।

चित्रकार की इस भावाभिव्यक्ति की सहृदय देखनेवाले को जो अनुभूति होती है अर्थात् चित्रकार अपनी ऐसी कृति द्वारा दर्शक के मन में जो भावोदय करता है वही साहित्य-शास्त्र का 'रस' है।

४—**लावण्य-योजना**—भाव के साथ लावण्य की योजना भी होनी चाहिए। भाव का संबंध तो आंतरिक विकारों से है। लावण्य बाह्य सौन्दर्य का व्यंजक है। इसलिये चित्र में भाव के साथ लुनाई की सृष्टि भी होनी चाहिए। **मुगल शैली** के भारतीय चित्रकार का सिद्धांत है कि **शबीह** (व्यक्ति-चित्र) सुन्दर होकर मिलनी चाहिए अर्थात् **शबाहत** जाने न पावे, साथ ही उसमें खूबसूरती भी पैदा हो जाय। यही है चित्र में लावण्य-योजना। शकुन्तला से ज्ञात होता है कि खिलौनों को कालिदास के समय में लावण्य कहते थे (शकुन्तलावण्यं आनय)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शकुन्त पक्षी जितना सुंदर होता है उससे भी अधिक सौन्दर्य खिलौने में होना चाहिए तभी वह कलात्मक कृति हो सकता है। लावण्य-योजना के लिये चित्र में समुचित निवेश भी होना चाहिए, अर्थात् चित्र में आकृतियाँ, इस प्रकार, ठीक ठिकाने बैठाई (=जुटाई) जायँ कि उसमें प्रभाव एवं रमणीयता उत्पन्न हो।

५—**सादृश्य**—चित्र काल्पनिक हो वा सत्य, उसे ऐसा होना चाहिए कि देखनेवाला चित्रस्थ व्यक्ति को तुरन्त पहचान ले (§ २१ क ७)। प्राचीन ग्रन्थों में चित्र द्वारा उसके बिम्ब के पहचान लिए जाने की चर्चा प्रायः आती है।

६—**वर्णिकाभंग**—रंगों का हिसाब। किसी चित्र में रंग बटकर लगाते में अर्थात् एक दूसरे से भिन्न होते हैं, किसी में मिलते जुलते रंग लगते हैं किसी में चुहचुहाते रंग लगते हैं और किसी में बुते हुए। किन्तु किसी अवस्था में विरोधी वा बेजोड़ रंगों का प्रयोग न होने पाये कि उसकी वर्णमैत्री असंतुलित हो उठे। कलाकार को ऐसे दोष बचाने चाहिए और

चित्र के विषयानुकूल रंग का यथोचित प्रयोग करना चाहिए।

§ ५. **चित्रों के प्रकार**—विधान भेद के अनुसार प्राचीन काल में अपने यहाँ मुख्यतः तीन प्रकार के चित्र बनते थे—

१—भित्तिचित्र, २—चित्रपट, और **३—चित्रफलक।**

१—**भित्तिचित्र,** जो दीवारों पर बनाए जाते थे एवं जिनका विशेष विवरण आगे अजंता की चित्रावली के वर्णन में मिलेगा (§§ १४—१६)।

२—**चित्रपट,** जो कपड़े पर और सम्भवतः चमड़े पर भी बनाए जाते थे और लपेटकर रखे जाते थे एवं कभी कभी दीवार पर टाँगे भी जाते थे।

३—**चित्रफलक,** जो लकड़ी, कीमती पत्थरों और हाथीदाँत[१] पर बनाए जाते थे।

इनमें से ११वीं, १२वीं शती से पूर्व के केवल भित्तिचित्र के नमूने अब प्राप्त हैं। ११वीं, १२वीं शती से चित्रित तालपत्र पोथियाँ और उनके इधर उधरवाले पटरे मिलने लगते हैं। चित्रपट तथा भित्तिचित्र की प्रथा अभी तक तिब्बत तथा नेपाल में जीवित है। चित्र फलक की परम्परा ग्रन्थ के चित्रित पटरों के रूप में रह गई है। भारत में भी वल्लभ सम्प्रदाय के मंदिरों में मूर्ति के पीछे चित्रपट टांगने की प्रथा है जिसे पिछवाई कहते हैं।

चित्रों के उक्त प्रकारों के **धूलि चित्र** भी उस समय बनते थे जिनकी वंशज आज-कल की साँझी (मराठी—रांगोळी) है। इसमें भाँति भाँति के रंगों के चूर्ण को जमीन पर भुरक कर आकृतियाँ—मुख्यतः आलंकारिक—अंकित की जाती हैं।

मुगल काल में जिस प्रकार अनेक चित्रों को एक जिल्द में बाँध देते थे अथवा आजकल अनेक फोटोग्राफों का एक अलबम बना लेते हैं उस प्रकार का कोई चित्राधार भी प्राचीन काल में होता था (§ २४ ख ५)।

§ ६. **चित्र के प्रयोजन**—धार्मिक अभिव्यक्ति के सिवा प्राचीन काल में चित्रों के मुख्य उपयोग ये जान पड़ते हैं—१-ऐतिहासिक दृश्यों का संरक्षण, २-जीवन की घटनाओं का संरक्षण, ३-मृत व्यक्तियों के आकृति का संरक्षण, ४-रसों का उद्दीपन, ५-प्रेम की अभि-व्यक्ति, ६-पति, पत्नी का चुनाव तथा विवाह-संस्कार की संपन्नता एवं ७-घरों का अलंकरण। सिवा संकेत चित्र भी बनते थे जिनका उपयोग पूजा इत्यादि धार्मिक-चित्रों के अंतर्गत रखना

१—अफगानिस्तान में हाथीदाँत के कुछ उत्कीर्ण प्राचीन मूर्ति-फलक मिले हैं, जो भारत के बने हुए हैं शुंगकाल से लेकर गुप्तकाल तक वहाँ गए थे। "इनमें हथेली से कुछ कम बड़े हाथीदाँत के फलक पर दो स्त्री-चित्र अंकित हैं। ये उत्कीर्ण नहीं हैं। इनमें सिर्फ बारीक रेखाएँ ही खोदी गई हैं। सम्भव है, शुरू में इनपर रंग भी रहा हो। ×× इन चित्रों में अजंता के उत्कृष्ट स्त्री-चित्रों का पूर्वाभास मिलता है।"—राहुल, सोवियत भूमि, पृ० ७५०

होगा। उन चित्रों में मूर्तियाँ न बनाकर उपास्य देवता के प्रतीकों से उनकी अभिव्यक्ति कर दी जाती थी।

गृहस्थों के घरों में उत्कट रसों के चित्रों का बनाना वा रखना अमांगलिक कहा गया है। ऐसे चित्र केवल राजसभाओं वा देवमन्दिरों में बनते थे अर्थात् ये स्थान उस समय के सार्वजनिक चित्रालय थे।

§ ७. **जोगीमारा गुफा के भित्तिचित्र**—भित्तिचित्र के सबसे प्राचीन उपलब्ध नमूने सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा में हैं। इस गुफा के अभिलेखों की लिपि डा० ब्लाख के मत से ३सरी शती ई० पू० की है, यद्यपि कुछ विद्वान् उसे तनिक पीछे की मानना चाहते हैं। इस गुफा के पड़ोस में ही सीताबोंगा गुफा है जो एक प्रेक्षागार (नाट्यशाला) है। पहले जोगीमारा गुफा इस प्रेक्षागार की नटियों का विश्राम गृह समझी गई थी, किंतु उसके अभिलेख का अब जो अर्थ किया गया है तदनुसार वह वरुण का मंदिर है जिनकी सेवा में एक देवदर्शिनी (=जिसे देवता प्रत्यक्ष दर्शन देता था) रहती थी। इसी गुफा में उसी के समय के (३सरी शती ई० पू०) वा उसके बाद के चित्र भी अंकित हैं जो ऐतिहासिक काल की भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम उपलब्ध नमूने हैं। किन्तु उन चित्रों की सुन्दर रेखाएँ उनके ऊपर फिर से खींचे गए भद्दे चित्रों में छिप गई हैं। बचे खुचे अंशों से अनुमान होता है कि वहाँ के कुछ चित्रों का विषय जैन था।

§ ८. **शुंग-काल**—२सरी शती ई० पू० के वाङ्मय से पता चलता है कि उस समय हमारे जीवन का चित्रकला से घनिष्ठ एवं गंभीर संबंध था। वर-वधू की अनुपस्थिति में चित्र बनाकर उनका विवाह संस्कार संपन्न किया जाता है एवं ऐतिहासिक घटनाओं के चित्र बनाकर रखे जाते हैं। लोगों को इन चित्रों की खूबियों—वर्णाढ्यता, भावोपपन्नता आदि की निगाह है और वे इन विशेषताओं का विवेचन करते हैं[1]। इसी काल के महाभाष्य में कृष्ण-लीला के चित्रों के प्रदर्शन की चर्चा है।

१—इन सब बातों का पता भास के नाटकों से चलता है—'प्रतिज्ञायौगंधरायण' के अंत में उज्जैन का राजा चंडमहासेन अपनी कन्या वासवदत्ता और वत्स के राजा उदयन का चित्र-फलक रखकर वैवाहिक कृत्य पूरा करता है, क्योंकि वासवदत्ता उदयन के संग पहले ही वत्स चली गई है। इस कथानक के लिये देखिए, ना. प्र. प. (नवीन) भाग ४, १६८-१७५। 'दूतवाक्य' में जब कौरवों के यहाँ संधि का उद्योग करने के लिये कृष्ण आनेवाले हैं तो उनके अभ्युत्थान से बचने के लिये दुर्योधन द्रौपदी-चीरहरण का चित्र मँगाकर देखने लगता है और और उसकी भाव-उपपन्नता वर्ण-आढ्यता की प्रशंसा करने लगता है; देखिए वही, पृ० १५६-१६२। 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' के तीसरे अंक में भी वर्णयोजना के निरीक्षण की चर्चा है।

जातकों में, मुख्यतः उम्मग जातक में चित्रों का बड़ा ब्योरेवार वर्णन है। किंतु जातकों का समय बड़ा संदिग्ध है। कुमारस्वामी के अनुसार उक्त जातक का समय कुषाण काल से पूर्व अर्थात् ईसवी सन् के पहले है। इसमें सभामंडपों एवं प्रासादों के चित्रों का उल्लेख है। विशेषतः एक चित्रित सुरंग के विषय में लिखा है कि चतुर चितेरों ने उसमें इंद्र के वैभव, सुमेरु-मंडल, समुद्र, चारो महाद्वीप, हिमालय, अनवतप्त, सूर्य, चंद्रमा, चारो दिक्पाल सरोवर एवं सातों भुवनों के चित्र बनाए थे जिनके कारण यह देवसभा सुधर्मा-जैसी दीखती थी।

§ ९. **शुंग तथा कुषाण-कालीन अजंता के चित्र (१०० ई०पू०-२०० ई०)** —ऐसी आशा करनी चाहिए कि हममें से अधिकांश ने कम से कम इतना तो अवश्य सुना होगा कि अपने देश में कहीं अजंता नाम का एक स्थान हैं जहाँ प्राचीन चित्र बने हुए हैं। किंतु जिन्हें इतना ही ज्ञान है उन्हें इसका गर्व नहीं, लज्जा होनी चाहिए। अजंता के चित्र विश्व मात्र की चित्रकला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं—यह न समझना चाहिए कि वे हमारे देश में हैं और हमारे पुरखों की बनाई हुई हैं इस लिए हम ऐसा कर रहे हैं। संसार के बड़े से बड़े कलामर्मज्ञों को यह बात माननी पड़ी है। अस्तु, अजंता का अधिक परिचय आगे दिया जायगा (§ १२)। यहाँ केवल इतना कहना है कि वहाँ की ९वीं तथा १०वीं गुफा में १०० ई० पू० से २०० ई० तक के कतिपय खण्डित चित्र बचे हैं। इनमें वहाँ के गुप्तकालीन चित्रों की सुघरता तो नहीं है किंतु ये उनसे अधिक जानदार हैं।

एक राजा वा यक्ष का उदात्त चित्र उस काल की साँची, मथुरा एवं भरहुत की मूर्तियों से बहुत मिलता हुआ है। छद्दंत जातक का चित्रण भी इनमें हुआ है। यद्यपि उसमें उतना भाव तो नहीं है जितना अजंता के ही इसी विषय के गुप्तकालीन चित्र में है (§ १६), फिर भी इसमें गांभीर्य उनसे अधिक है। भगवान् बुद्ध की खड़ी और बैठी हुई कई छबियाँ हैं। एक राज-समाज का चित्र भी सुन्दर है। इन गुफाओं के चित्रों में पुरुषों के सिर पर के मुँड़ासे, जिनमें आगे की ओर एक पोटली सी होती है, और भारी भारी आभूषण बिलकुल भरहुत-मथुरा शैली के हैं। इन चित्रों के देखने से जान पड़ता है कि चित्रकला उस समय काफी उन्नत हो चुकी थी। उसमें कहीं से आरम्भिकता नहीं है। अंकन में विधान-संबंधी उलझनों के कारण कारीगरों को जरा भी अटक-भटक नहीं हुई है। उनकी रेखाएँ पुष्ट और बिना टूट की हैं। यह कला सजीव साथ ही रमणीय गुप्तकालीन कला की जन्मदात्री होने की पूर्ण अधिकारिणी है।

§ १०. **गुप्त-काल (३२०-५२८ ई०)**—दूसरी शती के बीतते न बीतते भारत के स्वर्ण दिवस का अरुणोदय होने लगता है। ७८ ई० के बाद कुषाणों से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये यादववंश के नाग क्षत्रिय नर्मदा के दक्खिन जंगलों में जा बसे थे। वहाँ दूसरी

शती के मध्य (लग० १४०—१७० ई०) में भवनाग नामक राजा हुआ। उसने वहाँ से बढ़-कर कुषाण-साम्राज्य के पूर्वी छोर को जीत लिया और कांतिपुरी (मिर्जापुर के पास आधुनिक कंतित) में अपना राज्य स्थापित किया। फिर तो इस वंश ने कुषाण-सत्ता की रीढ़ तोड़ दी। इसने जो काम बाकी छोड़ा उसे इसके उत्तराधिकारी वाकाटक वंश ने पूरा किया और ३सरी शती की समाप्ति के पहले कुषाणों के उत्तराधिकारी क्षत्रपों तक की सत्ता निःशेष हो गई। इस बीच साकेत-प्रयाग प्रदेश में एक नई महाशक्ति का उदय हो रहा था। | पहला अध्याय

२७५ ई० के लगभग वहाँ गुप्त नामक एक राजा था जिसके पौत्र चन्द्रगुप्त (३१६—३४० ई०) का विवाह लिच्छिवि (तिरहुत) के गणतन्त्र शासकों की एक कन्या से हुआ। यह संबंध गुप्तवंश के उत्कर्ष का एक मुख्य कारण हुआ (लग० ३४०-३८० ई०)। उसने भारतवर्ष विजय करके अश्वमेध यज्ञ किया। भारत में उसका साम्राज्य स्थापित होने पर काबुल और तुखारिस्तान के कुषाणवंशी राजा ने तथा सिंहल आदि सब भारतीय द्वीपों के राजाओं ने भी उसे अपना अधिपति स्वीकार किया।

समुद्रगुप्त जैसा बड़ा विजेता था वैसा ही सुशासक भी था। कला और संस्कृति का भी वह बहुत बड़ा पोषक और उन्नायक था, स्वयं बीन बजाता और कविता करता। उसके दर-बारी कवि हरिषेण की रचना उच्च कोटि की है। इसके बाद गुप्तवंश का उत्कर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (लग० ३८२-४१५ ई०) अपने पिता से भी अधिक समृद्ध, सुसंस्कृत और वैभवशाली हुआ। उसने अपने साम्राज्य से प्राणदंड उठा दिया था। कालिदास संभवतः उसी के समय में थे। यह काल भारत के लिये अत्यंत गौरव का था। यदि हम कहें कि न तो इसके पहले देश की इतनी उन्नति हुई थी और न अब तक पुनः कभी, तो अत्युक्ति न होगी।

समुद्रगुप्त ने अपने दिग्विजय में वाकाटक-साम्राज्य जीतने के बाद उसके चेदि प्रान्त का दक्षिणी भाग तथा महाराष्ट्र प्रान्त तत्कालीन वाकाटक-सम्राट् रुद्रसेन के पास रहने दिया था। इस प्रकार छोटा हो जाने पर भी वह साम्राज्य काफी समृद्ध था। फिर समुद्रगुप्त ने अपनी कन्या प्रभावतीगुप्ता उक्त रुद्रसेन के पौत्र द्वितीय रुद्रसेन से ब्याह दी। इस प्रकार गुप्त और वाकाटक साम्राज्य स्नेह-श्रृंखलित हो गए। जिस समय उत्तर भारत में चन्द्रगुप्त विक्रमा-दित्य का सुराज्य था प्रभावतीगुप्ता, अपने पति की मृत्यु के कारण, अपने नाबालिग बेटे के अभिभावकरूप में उसी समय राज्य कर रही थी। इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से गुप्त प्रभाव वाकाटक-राज्य पर भी व्याप्त था।

चंद्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त (४१५-४५५ ई०) ने चालीस वर्ष राज्य किया। इस

समय भी भारत में वही अभूतपूर्व शांति, समृद्धि और संस्कृति विद्यमान थी। कुमारगुप्त ने नालंदा में एक महाविहार की स्थापना की जो आगे चलकर वहाँ के महान् विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हुआ।

किंतु इस सुख शांति में उत्तर-पश्चिमी सीमांत पर हूणों के खूनी बादल घिर रहे थे। कुमारगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी सम्राट् स्कंदगुप्त (४५५–४६७ ई०) के समय में यह प्रलयघटा पंजाब तक छा गई। किंतु स्कंद ने इस दुर्दिन से देश की रक्षा की। स्कन्द के बाद गुप्त वंश का प्रताप सूर्य ढलने लगा। ५२८ ई० में उसका स्थान 'जनता के नेता' सुप्रसिद्ध यशोधर्मा ने लिया और देश से हूणों का कंटक पूर्ण रूप से निकाल फेंका।

§ ११. **गुप्त-कला** (३३०–६०० ई०)—गुप्तों का कला प्रेम और उत्कृष्ट रुचि उनकी और उनके युग की प्रत्येक कृति से टपकती है। उनके सोने के सिक्कों पर उनकी मूर्तियों का तथा उनके जीवन की घटनाओं एवं उनके आराध्य देवताओं का बड़ा सजीव तथा कलापूर्ण अंकन हुआ है। ये सिक्के अधिकतर सोने के हैं। इनसे बढ़कर भारतीय सिक्के नहीं बने। इनकी तुलना में यदि कुछ ठहरते हैं तो अकबर और जहाँगीर के अलंकृत और आकृति वाले सिक्के। गुप्तों ने अनेक सुंदर मन्दिर और मूर्तियाँ बनवाईं। अशोकीय लाठ जैसे विशाल लाठ खड़े किए, जिनकी प्रथा शुंग-काल से उठ गई थी। लोक ने भी इस प्रभाव के कारण अद्वितीय कला-कृतियाँ बनाईं। कला का यह उत्कर्ष गुप्त-साम्राज्य के निःशेष हो जाने पर भी लगभग सौ वर्ष तक बना रहा। फलतः, जहाँ तक कला का संबंध है, ३३० ई० से ६०० ई० तक वा उसके कुछ बाद तक गुप्त-काल गिना जाता है। अजंता का सर्वोत्कृष्ट चित्रण इसी काल में हुआ। यद्यपि अजंता वाकाटक-साम्राज्य में था और गुप्त मूर्तिकला भी वाकाटक मूर्तिकला की ही परम्परा में है, किंतु गुप्त इतने सुसंस्कृत थे और उनकी कलाभिरुचि ऊँची और सक्रिय थी कि उस काल की समूची कलाकृति पर गुप्त प्रभाव मानना पड़ेगा और इसी कारण उसे गुप्त-कला कहना पड़ेगा। अतः अजंता के इस काल के चित्रों को वाकाटक शैली के न कहकर **गुप्त शैली** के ही कहना उचित है।

इस काल के बाद हमारी चित्रकला का इतिहास और उसके उदाहरण न्यूनाधिक शृंखलाबद्ध मिलते हैं।

दूसरा अध्याय

§ १२. **अजंता का परिचय**—जी० आइ० पी० एवं ताप्तीवैली रेलवे के जलगाँव, निजाम-रेलवे के औरंगाबाद तथा पचोरा-जामनेर रेलवे के पहूर स्टेशनों से सुगमतापूर्वक अजंता तक पहुँच सकते हैं। इन स्टेशनों से फरदापुर नामक ग्राम तक जाना होगा। उसी के निकट पहाड़ियों में अजंता के कलामंडप छिपे पड़े हैं। ये निजाम राज्य में हैं।

फरदापुर से चार मील की दूरी पर पहाड़ियों में बाघोरा नदी बहती है जिसे अजंता जाते समय एक बार पार करना पड़ता है। नदी में सर्पाकार इतने घुमाव हैं कि आप एकदम पास न पहुँच जायँ तब तक गुफाओं का गुमान भी नहीं होता। नदी का अंतिम घुमाव समाप्त होते ही प्रायः तीन सौ फुट ऊँचा, वर्तुलाकार दीवार-सा खड़ा, एक टीला पहाड़ से निकला

दिखाई देता है जो एक गगनचुम्बी प्रासाद सा लगता है। उसके बीचोबीच दालानों की एक कतार सी दिखाई देती है। ये ही अजंता की गुफाएँ हैं जो प्रवेश-द्वार से लेकर ठेठ अंत तक भक्ति, उपासना, धैर्य, प्रेम और लगन एवं हस्त-कौशल की संसार भर में सबसे अपूर्व उदाहरण हैं। यहाँ मूर्ति ('मूर्तिकला' § ८०) चित्र और वास्तु कलाओं में एक ही उच्च एवं पवित्र भावना सुसम्बद्ध शृंखला के रूप में स्फुट हुई है जिसकी सफलता संसार भर में अतुल है। एकांत और प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से भी अजंता अद्वितीय है। नीचे नदी बहती है। उसमें बड़े बड़े शिलाखंड हैं। उनसे टकराता हुआ पानी गुफाओं के ठीक नीचे एक कुंड में इकट्ठा होता है। घाटी में चारों ओर हरसिंगार का जंगल है। साथ ही और भी अनेक प्रकार के पुष्प और फल यहाँ उत्पन्न होते हैं। इस कारण चित्र-विचित्र पक्षियों का एक मेला सा लगा रहता है। कला की अभिव्यक्ति के लिये जिन लोगों ने ऐसे अपूर्व स्थान को चुना उनके चरणों में शत-शत प्रणाम है। यहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य का पूर्ण विकास अक्तूबर से दिसम्बर तक होता है।

अजंता में छोटी बड़ी कुल उनतीस गुफाएँ हैं। इनके दो भेद हैं—एक स्तूप-गुफा, दूसरी विहार-गुफा। स्तूप-गुफा में केवल प्रार्थना या उपासना की जाती थी इसलिये वह अधिक लंबी होती है और उसके अंतिम छोर पर एक स्तूप होता है जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा करने भर का स्थान होता है। वहाँ से द्वार तक दोनों ओर खंभों की पंक्ति रहती है। अजंता की १९वीं गुफा वहाँ की सबसे बड़ी स्तूप-गुफा है और उसका द्वार बड़ा ही भव्य एवं रमणीय है। विहार-गुफा भिक्खुओं के रहने और अध्ययन के लिये होती थी। ये दोनों प्रकार की गुफाएँ और इनमें का सारा मूर्ति-शिल्प एक ही शैल में कटा हुआ है किंतु क्या मजाल कि कहीं पर एक छेनी भी अधिक लगी हो। इस दृष्टि से सभी गुफाएँ अत्यंत उत्कृष्ट हैं किंतु गुफा नं० १ का, जो एक सौ बीस फुट तक भीतर काटी गई है, कौशल तो एक अचंभा है। प्रायः सभी गुफाओं में चित्र बने हुए थे जिनमें से १ली, २सरी, १६वीं और १७वीं गुफाओं के चित्रों के विशेष अंश बचे हैं। सौभाग्यवश ये सभी गुफाएँ गुप्तकालीन हैं। शेष गुफाओं के चित्र अपेक्षाकृत अधिक खंडित हो गए हैं—कहीं किसी का सुन्दर मुख, कहीं खंडित हाथ पैर, कहीं घोड़े हाथी वा उनके सवारों के अंग इत्यादि बच रहे हैं।

§ १३. **अजंता का पुनः आविष्कार और जीर्णोद्धार**—हजारों बरस के अज्ञातवास के बाद संसार को अजंता का फिर से पता १८२४ ई० में लगा जब जनरल सर जेम्स ने जाकर उसे देखा और उसका संक्षिप्त लिखित परिचय रायल एशियाटिक सोसायटी को दिया। १८४३ ई० में भारतीय वास्तु और मूर्ति के प्रेमी फर्ग्युसन ने उसका विशद विवरण लिखकर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। फलस्वरूप १८४४ ई० से १८४७ ई० तक ईस्ट इन्डिया कंपनी ने वहाँ के चित्रों की करीब तीस प्रतिलिपियाँ तैयार कराईं जो इँगलैंड के पैलेस में प्रद-

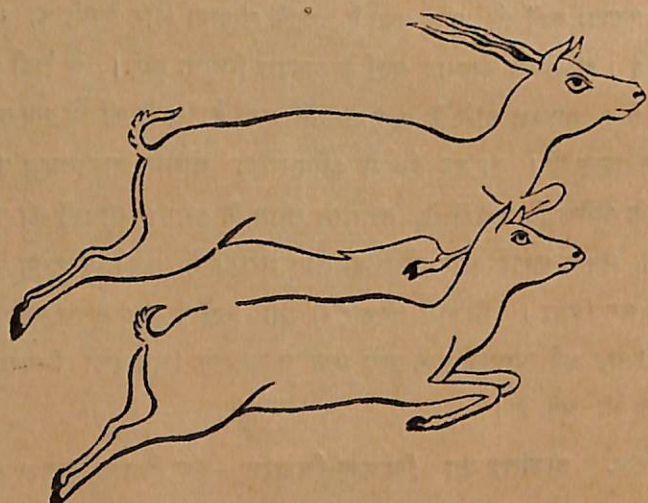
शित की गईं। किंतु अभाग्यवश १८६६ ई० में आग लग जाने के कारण वे जल गईं। यदि वे बची होतीं तो आज अजंता के चित्रों का ऐसा बहुत सा अंश हमें उपलब्ध होता जो तबसे, झड़कर वा दूसरी तरह नष्ट हो गया है। १८७०-१८८१ ई० में बंबई आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल ग्रिफ़िल्स ने स्कूल के विद्यार्थियों की सहायता से पुनः वहाँ की प्रतिकृतियाँ तैयार कीं जो दो बड़ी जिल्दों में, विवरण के साथ, प्रकाशित की गईं। ये चित्र भी लंदन में भारत-मंत्री के दफ्तर में भेज दिए गए किंतु इन्हें भी इँगलैंड का प्रवास न रुचा और ये भी भस्म हो गए। इसके बाद १९१५ ई० में लेडी हेरिंघम् कई भारतीय चित्रकारों के साथ—जिनमें श्री नन्दलाल बोस भी थे—वहाँ गईं और अनेक कठिनाइयों में उन्होंने वहाँ के कितने ही घटनामूलक चित्रों की नकल करवाई। लंदन की इंडिया सोसायटी ने निजाम सरकार की सहायता से इन प्रतिकृतियों का एक संस्करण निकाला। इसी समय से निजाम सरकार ने इन गुफाओं की ओर ध्यान दिया। फलतः वहाँ जो कुछ बचा है उसके संरक्षण और देखने का बढ़िया से बढ़िया प्रबंध हो गया है। श्री सैयद अहमद वहाँ के अध्यक्ष नियुक्त हुए। वे लेडी हेरिंघम् के चित्रकारों के दल में थे। अध्यक्ष होने के बाद उन्होंने वहाँ के चित्रों की जो नकल की हैं वे सबसे प्रामाणिक और तद्वत् हैं। १९१६ ई० में औंध-नरेश श्रीमान् बालासाहब पंत प्रतिनिधि ने भिन्न-भिन्न प्रांत के अनेक चित्रकारों से, वर्त्तमान समय के समस्त साधनों की सहायता से, गुफा के कुछ चित्रों की नकल कराई और अँगरेजी तथा मराठी में उनके संस्करण निकाल कर उन्हें अपेक्षाकृत सुलभ कर दिया। निजाम सरकार ने भी वहाँ के कुछ सुलभ पोस्टकार्ड निकाले हैं और चार जिल्दों में, बड़े आयोजन के साथ एक प्रामाणिक चित्रावली निकाल रही है जिसके तीन खंड निकल भी चुके हैं।

§ १४. **अजंता का चित्रण-विधान**—यह विधान सूक्ष्म रूप में इस प्रकार था कि दीवार या पाटन में जहां चित्रण करना होता था वहाँ का पत्थर **टपर** कर खुरदरा बना दिया जाता था जिस पर गोबर, पत्थर का चूर और कभी कभी धान की भूसी मिले हुए गारे का लेवा चढ़ाया जाता था। यह लेवा चूने के पतले पलस्तर से ढका जाता था और इस पर **जमीन** बाँधकर लाल रंग की रेखाओं से चित्र **टीपे** जाते थे जो रंग लगाकर तैयार किए जाते थे। अनुमान होता है कि मूर्तियों पर भी ऐसा ही पतला पलस्तर करके रँगाई की हुई थी।

§ १५. **अजंता के गुप्त-शैली के चित्रों की मुख्य विशेषताएँ**—इन चित्रों की तैयारी की **खुलाई** (रूपरेखा) बहुत जोरदार, जानदार और लोचदार है। उसमें भाव के साथ साथ वास्तविकता है एवं उसमें चीन की तथा उससे उत्पन्न जापानी और ईरानी चित्रकारी की वे सपाटेवाली कोण-दार रेखाएँ नहीं हैं जिनका उद्देश्य भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकरण ही होता है। रंगों की योजना प्रसंगानुकूल, बड़ी आढ्य और चित्ताकर्षक

है—कहीं फीके या बेदम रंग नहीं लगे हैं। आवश्यकतानुसार उनमें विविधता भी है। यथोचित हल्का साया लगाकर चित्रों के अवयवों में गोलाई उभार और गहराई (**डौल**) दिखाई गई है। हाथ-पाँव, आँख और अंग-भंगी भाषा से, अर्थात् भाव बताने की भाषा से, दूसरे शब्दों में हाथ की मुद्राओं से आँख की चितवनों से और अंगों के लचाव तथा ठवन से अधिकांश भाव व्यक्त हो जाते हैं।

यद्यपि इन चित्रों का विषय सर्वथा धार्मिक है और इनमें वह विश्व-करुणा अथ से इति तक पिरोई हुई है जो भगवान बुद्ध की भावना का मूर्त रूप है, फिर भी जीवन और समाज के सभी अंगों और पहलुओं से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सभी अंग और पहलू इनमें पूरी सफलता से अंकित हुए हैं। इतना ही नहीं, सारे चराचर जगत् से यहाँ के कलाकारों की पूर्ण सहानुभूति है और उन सबको उन्होंने पूरी सफलता से अंकित किया है (आकृति—१)।



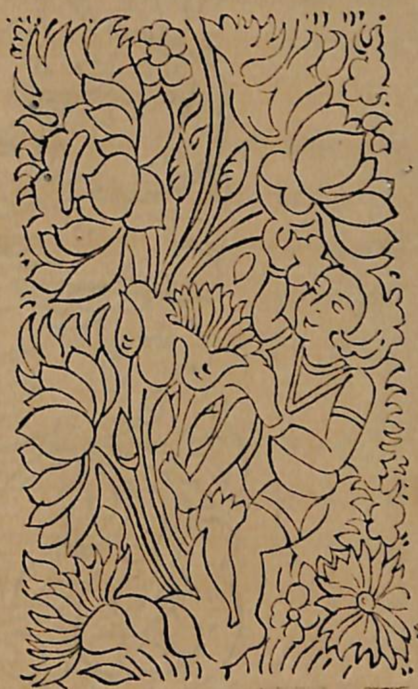
आकृति—१

मनुष्यों के रूपों के भेद और उनका आभिजात्य दिखाने में चित्रकारों ने कमाल किया है, अर्थात् भिक्षुक ब्राह्मण, वीर सैनिक, देवोपम सुंदर राजपरिवार, विश्वसनीय कंचुक और प्रतिहार, निरीह सेवक, क्रूर व्याध, निर्दय वधिक, प्रशांत तपस्वी, साधुवेशधारी धूर्त, कुलांगना, वारवनिता, परिचारिका आदि के भिन्नभिन्न मुख-सामुद्रिक और **अंगकद** की कल्पना उन्होंने बड़ी मार्मिकता से की है। प्रेम, लज्जा, हर्ष, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, घृणा, भय, आश्चर्य, चिंता, विरक्ति, निस्संगता, शान्ति आदि भाव भी इसी प्रकार बड़ी खूबी से दरसाए गए हैं।

यदि कलावंत ने सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति की है तो विरूप और भयंकर का आलेखन भी उसी सहानुभूति के साथ किया है, अर्थात् उसके लिये सुरूप और विरूप दोनों ही में समान सौन्दर्य है। इस कला में ओज और सौकुमार्य दोनों ही की, समान सफलता के

साथ व्यंजना हुई है। सबसे विशिष्ट बात यह है कि इसमें कहीं से भी अनावश्यक अलंकरण छू नहीं गया है; क्या चित्रस्थ पात्रों की वेश-भूषा में और क्या **खपूहर** (रिक्त स्थान) की पूर्ति के लिये जो **तरहें** बनी हैं उनमें।

तरहों की तो अजंता खान है। छतों में आकाश के **अभिप्राय** वाले फुल्ल महा-कमलों के चौके, जिनके चारों कोनों पर, दिगंतों में अंतरिक्ष-विहारी देवयोनि के कोनिए बने हैं, पचासों प्रकार के होंगे। कमल के जंगल की बेलें (आकृति–२), कमलों की **मुर्रियाँ**, आलंकारिक पत्ते की पूँछ वाली गौओं की **लपेटदार बेल** (आकृति–३), **गोमूत्रिका, झालर, बंदनवार**, आदि न जाने कितनी प्रकार की **तरहों** से यह चित्र-सारी भरी है। उनमें स्थूल एवं खर्व मानवों; हाथी, बैल, हंस आदि पशु-पक्षियों; आम इत्यादि फलों; रेखाओं और वृत्तों की ज्यामितिक आकृतियों का स्थान स्थान पर उपयोग किया गया है किंतु प्रधानता कमल की है जो अनेकरूप होकर सर्वत्र व्याप्त है।



आकृति–२

§ १६. **अजंता के गुप्त शैली के कतिपय चित्र**—१ली गुफा में की एक दालान की समूची दीवार पर प्रायः बारह फुट ऊँचा और आठ फुट चौड़ा मार-विजय का चित्र अंकित है। 'मार' (=प्रलोभन, कामदेव, शैतान) की सेना भगवान् बुद्ध को घेरे हुए है। सेना में भगवान् को डराने, क्रुद्ध करने, क्षुब्ध तथा लुब्ध और सकाम करने के लिये विकटाति-विकट मूर्तियों से लेकर अनेक कामिनियाँ तक बनी हैं जो अपने अपने उपायों से भगवान् को, जो मध्य में स्थित हैं, विचलित करने में प्रवृत्त हैं किंतु वे सर्वथा आत्मनिरत हैं। उनके लिये चारों ओर कुछ है ही नहीं वा हो ही नहीं रहा है।

इस गुफा में केवल संध्या के समय सूर्य की अंतिम किरणें प्रवेश पाती हैं। अतएव बड़ा आश्चर्य होता है कि यहाँ ऐसे ऐसे चित्र कैसे अंकित किए गए होंगे।

इसी गुफा में चंपेय जातक चित्रित किया गया है। इस जातक की कथा है कि



आकृति–३

बोधिसत्व ने किसी समय नागराज का जन्म लिया था और संयोगवश बंदी होकर काशी की हाट में बेचने के लिये लाए गए थे। उन्हें उस परिस्थिति से छुड़ाकर काशिराज अपने यहाँ ले गए और उनके सारे परिवार को भी निमंत्रित किया। इसका चित्र भी उक्त गुफा में है। एक ओसारे में नागराज तथा काशिराज एक राजासन पर आसीन हैं। चारों ओर राज-महिलाएँ तथा राज-परिकर घेरे हुए हैं। नागराज काशिराज को उपदेश दे रहे हैं। चित्र के प्रत्येक व्यक्ति का भाव और मुद्रा बड़ी सफलता से अंकित है एवं उसका **संयोजन** गथा हुआ है।

यहीं पर अवलोकितेश्वर का विशाल चित्र है। दायें हाथ में नील कमल धारण किए किंचित् त्रिभंग-युक्त भगवान् तात्विक विचार में मग्न हैं। अनेक समस्याएँ उनके हृदय में आंदोलित हो रही हैं। विश्व-करुणा से वे ओत-प्रोत हैं। उन भावों को चित्रकार ने पूर्ण सफलता से उनके मुख-मण्डल पर लिखा है। देव-सृष्टि, मानव-सृष्टि, विशेषतः उनकी अर्धांगिनी यशोधरा पर उनके इन भावों का जो प्रभाव पड़ रहा है वह भी बड़ी कुशलता से दिखाया गया है।

१६वीं गुफा के दो चित्र उल्लेखनीय हैं-- गहरी रात में भगवान् बुद्ध गृह-त्याग कर रहे हैं। यशोधरा और उनके संग शिशु राहुल सोया हुआ है। पास की परिचारिकाओं पर भी निद्रा ने अपनी मोहिनी डाल रखी है। इस दृश्य पर एक निगाह डालते हुए बुद्धदेव अंकित किए गए हैं। उस दृष्टि में मोह-ममता नहीं, प्रत्युत उसका अंतिम त्याग है। यही इस कृति का रहस्य है।

एक स्थान पर एक मरती हुई राजकुमारी का चित्र है। उसके बचाने के सभी उपाय अवश्यंभावी के आगे व्यर्थ हो गए हैं। मुमूर्षु की अवस्था और आस-पास वालों की विकलता दर्शक को द्रवित किए बिना नहीं रहती।

अजंता की १७वीं गुफा के सभी चित्र एक से एक बढ़कर हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सबसे चतुर चितेरों ने इसी गुफा में अपनी कला दिखाई है।

यहाँ पर एक तो माता-पुत्र का प्रसिद्ध चित्र है; (फलक–५) किंतु इससे चित्र के विषय का आधा ही ज्ञान होता है। यहाँ तो हम इतना देखते हैं कि एक माता अपने पुत्र को किसी के सामने साग्रह उपस्थित कर रही है और पुत्र भी अंजलि पसार अपनी मनोरथ सिद्धि की अभिलाषा कर रहा है; किंतु कौन है वह व्यक्तित्व जिसपर इन दोनों की टकटकी लगी हुई है? इन **आदम-कद** चित्रों के सामने एक विशाल महापुरुष स्थित हैं जिसके हाथ में भिक्षापात्र है। बुद्धत्व-प्राप्ति करने पर जब भगवान् पुनः कपिलवास्तु में आए तो उन्हें यशोधरा राहुल से बढ़कर और कौन सी भिक्षा दे सकती थी। आत्म-समर्पण की पराकाष्ठा का यह चित्र अपना जोड़ नहीं रखता।

दूसरा अध्याय

यहाँ छद्दंत-जातक की चित्रावली भी बड़ी सुन्दर है। बोधिसत्त्व एक जन्म में छः दाँतों वाले श्वेतवर्ण गजराज थे। उनके दो हथिनियाँ थीं जिनमें से एक ने सौतियाडाह-वश आत्महत्या कर ली और एक राजा के घर जन्म लिया। इस जन्म में भी उसकी डाह कम न हुई और उसने व्याधों को गजराज का सिर ले आने भेजा। यह जानकर वह आप व्याधों के सामने आ खड़े हुए। इससे व्याधों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे राजकुमारी को फुसलाने के लिये उनके छहो दाँत काट लाए। इस बीच राजकुमारी के मन में प्रतिघात हुआ था, सो दाँतों को देखते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। अंत में सारे रहस्य का भेदन होता है और गजराज क्षमा का उपदेश प्रदान करते हैं। यह समूची चित्रावली ऐसी सजीव है मानों सारा दृश्य हम अपनी आँखों देख रहे हों। कमल की भाँति हाथी भी भारतीय कला का एक मुख्य अंग है। इस चित्रावली में विविध-विध प्रवृत्त हाथी के जंगल के जंगल का आलेखन है और ऐसा सफल आलेखन है कि आवाक् रह जाना पड़ता है। याद रखना चाहिए कि यह सारा अंकन भावगम्य है (§ ४ [३])।

इसी प्रकार यहाँ हाथियों की एक दूसरी चित्रावली भी है। यह गज-जातक का चित्र है, जिसकी कथा इस प्रकार है—भगवान् एक जन्म में हिमालय के श्वेत हस्ती थे। वे ही अपनी वृद्ध माता तथा अंध पिता का पालन करते थे। प्रयाग के राजा ने गजराज की प्रशंसा सुनकर पकड़वा मँगवाया; किंतु वे कुछ खाते-पीते न थे। जब उनके इंगित से प्रयाग के अधिपति ने यह बात जानी तो उन्हें मुक्त कर दिया। शीघ्र वे अपने माता-पिता के पास पहुँचे। यह मिलन का दृश्य हाथियों के कौटुंबिक प्रेम, वात्सल्य और करुणा से ओत-प्रोत है।

वेस्संतर-जातक का दृश्य भी बड़ा मर्मस्पर्शी है। इसमें एक वानप्रस्थ राजकुमार से एक याचक ब्राह्मण उसके एकमात्र अल्प-वयस्क पुत्र को माँग लेता है जिसे राजकुमार सहर्ष प्रदान करता है। प्रस्तुत चित्र में क्षीणकाय किन्तु कुटिल ब्राह्मण का दाँत निकालकर माँगना, अपनी पर्णकुटी में बैठे वनवासी बोधिसत्त्व राजकुमार का बिना किसी क्षोभ वा उद्वेग के उसकी याचना स्वीकार करना और भरी देहवाले भोले बालक का इस भाव से अपने पिता का मुँह देखते रहना कि यह आदेश दें और मैं उसका पालन करूँ, बड़ी भावुकता से अंकित है (फलक—४) यह हृदय पर करुणा की गहरी छाप लगा देता है।

एक अन्य जातक-दृश्य में युद्ध का प्रसंग बड़ी सजीवता से दिखाया गया है। इस बड़े चित्र में लगभग तीन सौ चेहरे आज भी गिने जा सकते हैं। प्रत्येक चेहरे पर युद्ध के विविध भाव देखनेवालों को चकित कर देते हैं।

एक स्थान पर आकाश-चारी दिव्य गायकों के समुदाय का बड़ा रमणीय आलेखन है (फलक—३)।

इस गुफा का सर्वस्वान्त का संदेश-विषयक चित्र भी बड़ा प्रभावोत्पादक है। अपने आसा के सहारे एक वृद्ध कंचुक खड़ा है। उसके आर्त नेत्र ही कथा कह रहे हैं, मुँह से कहने की कोई आवश्यकता नहीं। दाहिने हाथ की मुद्रा से रहे-सहे की सूचना मिल जाती है। इस चित्र की रेखा रेखा में भाव और **दम खम** भरा है।

यहाँ महाहंस-जातक और सिवि-जातक आदि के भी उत्कृष्ट आलेखन हैं।

अजंता के उक्त थोड़े से चित्रों के वर्णन को बटले में का एक चावल समझना चाहिए। नहीं तो, केवल इसी वर्णन के लिये एक स्वतन्त्र पुस्तक होनी चाहिए। कलात्मक दृष्टिकोण के अतिरिक्त, सांस्कृतिक अध्ययन के दृष्टिकोण से भी अजन्ता एक अक्षय्य भण्डार है। उस समय के रहन-सहन, वेष-भूषा, आदि, आदि को अजंता की सामग्री द्वारा, हम ज्यों का त्यों देख सकते हैं।

अजंता की चित्रकला को वा प्राचीन भारत की मूर्ति-कला को कितने ही लोग बौद्ध-कला कहा करते हैं। यह सरासर भूल है। भारत में ब्राह्मण, बौद्ध वा जैन-कला जैसी कोई वस्तु कभी नहीं रही। प्राचीन-कला पर यदि कोई प्रभाव है तो राजनीतिक कालों का। हाँ, अजंता के अनेक चित्रों के अनेक विषय अवश्य बौद्ध है।

§ १७. **इस काल के अन्य भित्ति-चित्र**—प्राचीन स्थानों की अभी तक ठीक ठीक खोज नहीं हुई है। जितने भी स्थान मिले हैं, संयोगवश। अभी न जाने कितने चित्रित मंदिर और मिलेंगे। संप्रति, भारत में अजंता के सिवा और कहीं गुप्त-कालीन चित्र नहीं पाए गए। हाँ, सिंहल के सिगिरिय (सिंह गिरि) नामक पर्वत में, जो एक प्राकृतिक गढ़ी जैसा है, दो उथली खोह हैं जिनमें ५वीं शती के भित्ति-चित्र बने हुए हैं। पन्द्रह सौ वर्ष तक हवा खाते हुए भी ये कहीं से बिगड़े नहीं। इनकी शैली अजंता के सन्निकट है। इनमें आकाश-चारिणी देवांगनाएँ अंकित हैं, जैसा कि उनका निचला धड़ मेघ द्वारा आवृत होने से विदित होता है। वे या तो हाथों में फूलों से भरा थाल लिए है या पुष्पवृष्टि कर रही हैं। उनकी आकृति कांतिमती और आलेखन बड़ा सुबुक है। चित्रकार की **वर्णिका** पीले, हरे, काले और कई प्रकार के लाल रंगों की है।

§ १८. **गुप्तकालीन चित्रकला का वाङ्मय में उल्लेख**—यों तो अजंता की कला सर्वथा धार्मिक है, किंतु उसके विषय जितने व्यापक हैं और चित्रकारों ने उन्हें जैसी सिद्धहस्तता से अंकित किया है उससे इस सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं रह जाता कि उन दिनों चित्रण वस्तु (= थीम) बहुत व्यापक था और चित्रकारों को हर तरह के चित्र बनाने पड़ते थे। ऐसा तभी संभव है जब इस कला का राष्ट्र के जीवन से घनिष्ट संबंध रहा हो। वाङ्मय से भी यही अवगत होता है। कालिदास की रचनाओं से पता चलता है कि अधिकांश सुसंस्कृत

स्त्री-पुरुष स्वयं चित्रण जानते थे। प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे का चित्र बनाते थे। वियोग में नायक-नायिका एक दूसरे का चित्र देखकर अपना दुःख हलका करते थे। चित्र देखकर प्रेमांकुर उगता था तथा विवाह-संबंध पक्के होते थे। विवाह के साथ देवताओं के संकेत चित्र बनाकर पूजे जाते थे। शयनागार चित्रित होते थे। जीवन की घटनाओं, ऐतिहासिक घटनाओं और मृत राजाओं के चित्र अंकित होते थे। नागरिकों के घर एवं राजप्रासाद चित्रित हुआ करते। उनके खम्भे आदि पर जो पुतलियाँ बनी रहती थीं वे भी रँगी जाती थीं। रघुवंश में उजड़ी अयोध्यापुरी के वर्णन में वहाँ के भित्ति-चित्रों का एक दृश्य दिया है कि हाथी पद्म-वन में हैं और हथिनियाँ उन्हें मृणाल तोड़कर दे रही हैं। यह दृश्य अजंता के जल-क्रीड़ा करते हुए हाथियों कितना मिलता है।

'मुद्राराक्षस' से, जिसका समय जायसवाल ने लगभग ४१० ई० स्थिर किया है[1] पता चलता है कि उस समय के मँगते जीवन की अस्थिरता और यमराज का त्रास दिखाने के लिये कृतांत की आकृतिवाले चित्रपट लिए घूमा करते थे और गा गाकर लोगों को अपना संदेश सुनाते थे। संयोगवश अजंता की १७वीं गुफा में इस दृश्य का एक चित्र भी मौजूद है[2] जिसमें हुस्तण्डे नग्न क्षपणकों का एक दल चला जा रहा है। उनमें के एक महोदय तो इतने मोटे हैं कि दूसरों का सहारा लेकर चल पाते हैं। इसी मण्डली में एक के हाथ में एक लग्गी है जिसपर उक्त प्रकार का चित्रपट लटक रहा है।

इसी काल के कामसूत्र में नागरिक के शयनागार का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसमें खूँटी पर चित्रण के उपकरण टँगे रहने चाहिए कि जब आवश्यकता हो, उनका उपयोग किया जाय।

§ १६. **बृहत्तर भारत में गुप्तकालीन चित्रकला**—इस समय तक भारत का सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व दूर दूर तक फैल चुका था। खुतन और चीन में तो बौद्ध संप्रदाय पहले से ही चला आता था। समुद्रगुप्त के समय में वह कोरिया में भी पहुँच गया और वहाँ की भाषा उसी समय से हमारी ब्राह्मी लिपि में लिखी जाने लगी। यशोधर्मा के समय से निपन (जापान) देश भी बौद्ध हो गया। भारतीय द्वीपों में हमारा राज्य बोर्नियो के पूरबी छोर तक जा पहुँचा, जिसमें अड़ोस पड़ोस के सभी द्वीप और मलका प्रायद्वीप भी समा गया। बरमा तो वाकाटक युग में ही भारतीय प्रभाव में आ चुका था।

इन क्षेत्रों में से चीन की अपनी बड़ी उत्कृष्ट चित्रकला बहुत पहले से थी। किन्तु उसकी परवाह न करके भारतीय चित्रकला ने भी, बौद्ध संप्रदाय के पीछे पीछे, वहां पहुँच कर

१—इंडियन ऐंटिक्वेरी, अक्तूबर, १६१३, पृ०, २६६।
२—औंध प्लेट, ७४।

अपनी जड़ जमाई। वहाँ से यह प्रभाव इस काल में कोरिया और जापान तक व्याप्त हुआ। इस समय अन्य क्षेत्रों में भी भारतीय चित्रकला पहुँच चुकी थी, जैसा कि उन क्षेत्रों में पूर्व मध्यकालीन अनेक उदाहरण मिलने से प्रतिपादित होता है (§ २२)।

मानी नामक एक चित्रकार और धर्मप्रवर्तक ईसवी ३सरी शती में, अपर-भारत में हुआ। उसकी एक अपनी शैली थी; किंतु उसमें भारतीय प्रभाव भी विद्यमान है। मानी भारत में आया भी था। इसकी शैली का भी ईरानी चित्रकला पर प्रभाव पड़ा। इस प्रकार भी प्रकारांतर से भारतीय प्रभाव ईरान तक पहुँचा।

तीसरा अध्याय

§ २०. **पूर्व मध्यकाल** (६००-९०० वा १००० ई०) **के भित्ति-चित्र**—

क. **अजंता**—यों तो अजंता की पहली गुफा के कुछ चित्र, विशेषतः उसकी छत के अलंकरण (§१५) ७वीं शती के हैं, किन्तु वे शैली में वहीं के ६ठीं शती वाले चित्रों से इतना मेल खाते हैं कि सुगमतापूर्वक अलग नहीं किए जा सकते। अतएव उन्हें भी अपने पूर्ववर्ती चित्रों के साथ छोड़ देना चाहिए। दूसरी गुफा में भी इस काल के चित्र हैं जिनमें ह्रास लक्षित होने लगता है, फिर भी ये इस काल के बिलकुल आरम्भ की कृतियाँ हैं अतएव वह ह्रास नहीं के बराबर है। इस गुफा का एक प्रख्यात चित्र दया की याचना है। किसी राजा ने एक तरुणी के वध की आज्ञा दे दी है। वह अबला उस निर्दय के चरण में गिर कर दया की

याचना कर रही है। इस अभागिनी का चित्र किसका हृदय विगलित न कर देगा।

दूसरा मार्क का चित्र एक प्रेममग्न सुन्दरी का है। उसके प्रेमी का हाथ उसके कण्ठ में है जिसे वह बड़े आग्रह से थामे हुए है। उसके नेत्र प्रेमासव से छके हुए हैं (फलक—६क)।

ख. **बाघ**—इस काल के बाघ-गुफा के चित्र सन् १६०७-८ से पुनः संसार के सामने आए हैं। विन्ध्य पर्वत का यह अंश मालवे में ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत है। पास ही नर्मदा की एक छोटी सी करद नदी, जिसका नाम वाघ वा बाघ है, बहती है। उसी के कारण यहाँ की गुफाओं का नाम और पास के गाँव का नाम भी बाघ पड़ा है। यहाँ कुल नौ गुफाएँ हैं जिनका सामना साढ़े सात सौ गज लम्बा है। किन्तु नवों गुफाएँ आपस में मिली हुई नहीं हैं। इनमें की ४थी और ५वीं गुफाओं से मिला हुआ एक २२०´ लम्बा ओसारा है। कोई बीस भारी खम्भों पर इसकी छत आधृत थी। ये खम्भे प्रायः निःशेष हो चुके हैं। मुख्यतः इसी ओसरे में यहाँ के चित्र हैं। किन्तु खेद है कि उनकी ओर ध्यान आकृष्ट होने के पूर्व, छत गिर जाने के तथा अन्य प्राकृतिक और मानुष उपद्रवों के कारण उनकी काफी क्षति हो चुकी है और बहुत थोड़े चित्र बच रहे हैं। अब ग्वालियर राज्य ने उनकी रक्षा का प्रबन्ध किया है और इंडिया सोसाइटी, लन्दन के सहयोग से उनके विषय में एक सचित्र पुस्तक भी प्रकाशित की है। यहाँ के चित्रों की शैली अजंता से भिन्न नहीं है एवं वहाँ के पूर्व मध्य कालीन चित्रों की तुलना में ये उन्नीस भी नहीं बैठते। इनमें मुँह ढँककर रोती हुई एक स्त्री का चित्र, जिसे उसकी सखी सान्त्वना दे रही है, बड़ा भाव-पूर्ण है। एक दृश्य नृत्य-समाज का है जिसमें नाचने वाली मंडल बाँध कर छोटे-छोटे डंडे लड़ा कर नाच रही हैं। इस आलेखन में यथेष्ठ गति और रमणीयता है। यहाँ सवारी का भी एक चित्र है, जिसमें हाथियों का दल बड़ा भव्य है। यहाँ के अलंकरण अजंता जैसे नहीं हैं किंतु यहाँ कमल की झुरमुट वाली बेल में वहाँ से अधिक प्रवाह है।

बाघ के, तथा अजंता से अन्यत्र और सभी, भित्ति-चित्र चूने की गच् (पलस्तर) पर बने हैं।

ग. **बादामी**—बंबई प्रांत में अइहोळ नामक स्थान के पास बादामी में चालुक्यों के बनवाए चार गुफा-मंदिर हैं। इनमें भी हाल में भित्ति-चित्र मिले हैं। इनकी दशा बाघ के चित्रों से अच्छी है। कला की दृष्टि से ये भी अपने काल के उत्तम चित्र थे। यहाँ के कुछ चित्रों की प्रतिकृतियाँ तैयार की गई हैं, जिनमें से एक इस पुस्तक में दी जा रही है (फलक-६ ख); इस चित्र में कोई स्त्री किसी की याद में वा कोई आशा लगाए एक खंभे के सहारे खड़ी है। उसकी दृष्टि अवकाश में लगी है—वह अपनी स्मृति का चित्र आकाश में देख रही है। सुंदर कल्पना है। यहाँ के अन्य चित्रों में, एक राजसमाज में नृत्य का दृश्य; सिंहासना-

सान राजा-रानी और उनकी परिचारिकाओं का आलेखन तथा एक झरोखे से देखती हुई तीन स्त्रियाँ और उनके संग के एक किशोर का चित्र जो, हाथ की मुद्रा से कोई विचित्र वार्त्ता व्यक्त कर रहा है, उल्लेखनीय है।

घ. **सित्तनवासल**—मदरास में तांजोर के पास पुदुक्कोटा राज्य में सित्तन-वासल नामक स्थान है। वहाँ शक्तिशाली पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा प्रथम (लग० ६००–६२५ई०) और उसके पुत्र नरसिंह वर्मा (लग० ६२५–६५० ई०) के कटवाए गुफा-मंदिर हैं। कोई अठारह बीस बरस पूर्व उनकी भीतों पर बड़े ही सुंदर चित्रों का पता लगा। इनकी भी शैली अजंता की है। इनमें नाचती हुई अंगनाओं के कई अंकन हैं जिनके भाव, भंगी, हस्त-मुद्रा, आकृति तथा अलंकरण बड़ा सुचारु, सजीव एवं प्रेक्षणीय है। एक छत में अत्यंत सघन कमल-वन बना हुआ है जिसमें मौके मौके पर मीन, मकर, कच्छप आदि जलजंतु तथा हाथी, महिष और हंस आदि जल के प्रेमी पशु-पक्षी दिखाए गए हैं। कहीं कहीं फूल तोड़ते हुए दिव्य पुरुष भी बने हैं। छत की यह सजावट अपने ढंग की निराली ही नहीं, बड़ी रमणीय भी है। एक स्थान पर एक पुरुष का चित्र **है** जिसके चेहरे से आभिजात्य और विशिष्टता टपकती है। उसके बाएँ कंधे के पीछे एक प्रसन्नवदन संभ्रांत महिला की आकृति है। इस जोड़ी के अंकन में कलाकार को पूरी सफलता मिली है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह महेंद्रवर्मा और उसकी रानी का तुल्यकालीन चित्र है। सित्तनवासल के अन्य चित्र संभवतः जैन धर्म से संबंधित हैं।

ङ. **वेरूल**—जिसकी खराबी आजकल 'एलोरा' हो गई है, निजाम राज्य में, अजंता से कोई पचास मील के भीतर है। निजाम-रेलवे के औरंगाबाद स्टेशन से यह सोलह मील पर है। स्टेशन से पक्की सड़क बनी हुई है और मोटर मिलती है। यहाँ एक पूरी पहाड़ी काट कर संसार भर में अद्वितीय मंदिरों में परिणत कर दी गई है ('मूर्तिकला', §८८क)। इन मंदिरों में से मुख्यतः कैलासनाथ[1], लंकेश्वर, इंद्रसभा और गणेश लेण में खंडित भित्ति-चित्र पाए जाते हैं। यों तो सभी मंदिर बाहर-भीतर से चित्रित थे, किंतु उक्त मंदिरों से अन्यत्र केवल उनके चिह्न रह गए हैं। अधिकांश में ये चित्र पूर्व मध्यकाल के पिछले भाग, अर्थात् ८वीं शती के अंत के हैं। इन चित्रों के ऊपर चित्रों की एक दूसरी तह भी है जो इनसे सौ दो सौ बरस बाद की बनी हुई है। इनमें से कैलासनाथ मंदिर के चित्रों में कई जगह पहले की तह दिखाई देती है। वह जिस गच (पलस्तर) पर बनी हुई है वह भीत के पत्थर से मिला हुआ है, अतएव निश्चयपूर्वक वह मंदिर के साथ की **लिखाई** है। यतः हम जानते हैं कि

१—कैलासनाथ के जिस अंश में चित्र हैं उसे, सम्भवतः चित्रों के कारण, रंगमहल कहते हैं।

यह मंदिर ८वीं शती का है अतएव यह पहली चित्रकारी भी उसी समय की हुई। इस चित्र-कारी में, अजंता की परंपरा होते हुए भी, वहाँ की शैली से विशेष अंतर पाया जाता है। अंतर इस बात में कि इसमें कला का ह्रास स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। अलंकरणों में वह सौंदर्य नहीं है, अंग-प्रत्यंग में जकड़ है और **सवा-चश्म**[1] चेहरों में, जिनकी यहाँ अधिकता है, नाक का आलेखन अतिरिक्त लंबा हुआ है, यहाँ तक कि वह परले गाल के बाहर निकली हुई है एवं परली आँख भी चेहरे की सीमा के बाहर निकली हुई है। साथ ही अकाश की अभिव्यक्ति के लिए दिखाए गए बादल के खंडों में अजंता का सौंदर्य नहीं है। वे रुई के ढेर की तरह, गोले-गोले दिखाए गए हैं। प्रत्येक गोला **खुलाई** की एक-एक रेखा से अभिव्यक्त किया गया है। मध्यकाल में **सवाचश्म** चेहरा तथा लम्बी नाक बनाने की प्रवृत्ति चित्रों के सिवा मूर्तियों में भी पाई जाती है। किंतु नाक का परले गाल की सरहद से और परली आँख का चेहरे की सीमा से बाहर निकलना पहले पहल हम यहीं पाते हैं।

वेरूल की पाटनों में महाकमल का आलेखन है जिनकी **कोनियों** में कमल के जंगल और उसमें हाथी, मछली और फूल लोढ़ती हुई अप्सराएँ इत्यादि बनी हैं। इसके चारों ओर चौड़ी पट्टियाँ हैं, जिनमें अनेक दृश्य अंकित हैं। इनमें जहाँ पहले के **आलेखन** निकल आए हैं उन स्थलों में गरुड़ पर आरूढ़ वैष्णवी का चित्र तथा सिंहवाहना एक देवी का चित्र, जिनका मुख कुछ पीछे को मुड़ा हुआ है और उनके इधर उधर बादल में उड़नेवाली देवबालाओं की आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। बादलवाली तह के चित्रों को देखने से जान पड़ता है कि कहीं पर तो उन्हें बनाकर पहली तह के चित्रों की मरम्मत की गई एवं जोड़ मिलाया गया है और कहीं पहली तह को बिलकुल ढक कर नए चित्र लिखे गए हैं।

§ २१. **पूर्व मध्यकालीन वाङ्मय में चित्र**—यों तो पूना जिले के भाजा और वेदसा की गुफाओं में भी इस काल के भित्ति-चित्र हैं, किन्तु अभी उनके पर्याप्त विवरण प्राप्त नहीं, अतः वेरूल के वर्णन के साथ हम प्रायः उत्तर मध्यकाल की देहली पर पहुँच जाते

१—भारतीय चित्रकला में मुख्यतः छः रुख के चेहरे बनाए जाते हैं। उसके नाम तात्पर्य सहित इस प्रकार हैं—१-**पौन-चश्म**—जिसमें चेहरे का आधे-से भी कम हिस्सा एवं एक आँख का जरा सा कोना दिखाई देता है; २—**एक-चश्म**–जिसमें चेहरे का एक रुख और एक आँख दीख पड़ती है; ३—**सवा-चश्म**–जिसमें चेहरे का समूचा एक रुख और उससे परले रुख का थोड़ा गाल तथा थोड़ी सी आँख दीख पड़ती है; ४—**डेढ़ चश्म** जिसमें परले गाल और आँख का अंश और अधिक दिखाई देता है; ५—**पौने-दो चश्म**–जिसमें चेहरे का परला रुख और आँख **संमुख**-चेहरे से कुछ ही कम दीख पड़ती है और ६—**संमुख**–जिसमें नाक ठीक बीच में होती है और चेहरे के दोनों रुख तथा दोनों आखें पूरी-पूरी दिखाई देती हैं।

हैं। अतएव उसमें प्रवेश करने के पहले, यह आवश्यक है कि प्रस्तुत काल के क–चित्र संबंधी वाङ्मय तथा ख–अन्य वाङ्मय में आनेवाले चित्र-विषयक, कुछ मुख्य उल्लेखों की चर्चा कर दी जाय।

क—**विष्णुधर्मोत्तर पुराण का चित्र-सूत्र**—यद्यपि विष्णुधर्मोत्तर पुराण की गिन्ती अठारह पुराणों वा उपपुराणों में नहीं है तथापि वह विष्णु पुराण का एक प्रकार का खिल है और उसके संकलन का समय मध्यकाल से पीछे का नहीं ठहरता। इसी के एक अंश का नाम **चित्र-सूत्र** है जो प्रस्तुत काल की रचना जान पड़ता है[1]। इसमें चित्रों के शारीरिक लक्षण, रंग, अंकन-विधान तथा तात्त्विक सिद्धान्तों का कई अध्यायों में बड़ा विशद विवेचन है। इसके बाद के कई ग्रन्थों में-जैसे अभिलषितार्थ-चिन्तामणि, मानसार, शिल्परत्न और समरांगण-सूत्रधार आदि में—चित्रशास्त्र पर अध्याय मिलते हैं उन सबका आधार मुख्यतः यही चित्र-सूत्र है। अतएव यहाँ इसकी कतिपय विशेष बातों का सारांश देना अनुचित न होगा—

१—विना नृत्त[2] के हाव-भाव एवं अंग-भंगी की समझ हुए चित्रों का समुचित अंकन एवं प्रेक्षण असम्भव है। कितनी बारीक बात है। नट (= अभिनेता, पात्र) अपने नृत्त में जो अभिव्यक्ति उक्त आंगिक विकारों द्वारा करता है उसी को प्रेक्ष्य-कलाओं का निर्माता अपनी कृति में स्थायित्व प्रदान करता है। अतएव ऐसा निर्माता जब तक नृत्त के तत्त्वों में निष्णात न होगा तब तक अपनी सृष्टि में कैसे सफल होगा। इसी प्रकार जब तक उसके प्रेक्षक को वे तत्त्व अवज्ञात न होंगे तब तक वह चित्रादि को कैसे समझ सकेगा। न तो वह उनके भाव तक पहुँचेगा, न आंगिक विकारों की स्वाभाविकता को निरख सकेगा, और 'यह हाथ ऐसा क्यों, वह पाँव वैसा क्यों' की नुक्ताचीनी

१—इस 'सूत्र' में रंगों के लिये संस्कृत 'राग' नहीं, आज तक बोलचाल में चलने-वाले 'रंग' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ संस्कृत में अभिनय वा युद्ध भूमि होता है। अतः जान पड़ता है कि इसमें गुंफित सिद्धान्त उस समय की बोलचाल की भाषा से संस्कृत में निबद्ध किए गए हैं। अर्थात् उस समय के कारीगरों में इन सिद्धान्तों का प्रचार था।

२—नृत्य और नृत्त में बड़ा अन्तर है। नृत्य नाचने को कहते हैं और नृत्त सुसंस्कृत अभिनय को—

परस्यानुकृतिर्नाट्यं नाट्यज्ञैः कथितं नृप।
तस्य संस्कारकं नृत्तं भवेच्छोभाविवर्धनम्॥

—विष्णुधर्मोत्तर० ३।२०।१

किया करेगा।

२—सत्य और काल्पनिक दोनों प्रकार के चित्र बनते थे; सत्य चित्र के लिये आवश्यक था कि वह बिंब का तद्वत् प्रतिबिंब हो, यही उसकी विशेषता थी। काल्पनिक चित्र की सामग्री के लिये 'सूत्र' में अनेक बातें बताई गई हैं। इनमें से एक तो यह है कि किन किनके शरीर का कितना प्रमाण होना चाहिए—देवता, देवयोनि तथा मनुष्य के और उनमें भी पद तथा जाति के अनुसार शरीर के प्रमाण भिन्न भिन्न हैं। उन्हीं प्रमाणों के अनुरूप उनकी योषाओं के प्रमाण भी अलग अलग हैं।

३—देवताओं, नागों, किन्नरों और यक्षों का रूप सौम्य तथा राक्षसों का भीषण होना चाहिए, उनके केश उठे हुए एवं आँखें तनी हुई होनी चाहिएँ। वियोगिनी का वस्त्र श्वेत होना चाहिए, चिंता के कारण उसके केश पक चले हों, तन पर आभूषण न हों। सेनापति को खूब लम्बे चौड़े शरीर का, भारी भुजा, कंधे और ग्रीवा वाला तथा चढ़ी भृकुटी वाला बनाना चाहिए। उसकी आकृति दृप्त और ऊर्जित होनी चाहिए। सैनिक फौजी पोशाक में और शस्त्रास्त्र से सजे हुए होने चाहिएँ। गायक-नर्त्तकों का वेश उद्धत होना चाहिए। नगर और देहात के लोगों को भले वस्त्र पहने हुए और स्वभाव से प्रियदर्शी उरेहना चाहिए। कारीगरों को अपने काम में लगे हुए दिखाना चाहिए। पहलवानों को विशालकाय, भरे कल्लेवाले और बदन पर मिट्टी लगाए दिखाना चाहिए। देश-देश के लोगों को ऐसा बनाना चाहिए कि वे उस उस देश के मालूम हों, क्योंकि चित्र में सादृश्यकरण ही प्रधान है। नदी-देवताओं को हाथ में पूर्ण कुम्भ लिए हुए वाहनों पर दिखाना चाहिए। समुद्र को हाथ में रत्न का पात्र लिए हुए बनाना चाहिए। उसके ज्योतिमंडल के स्थान पर पानी अंकित करना चाहिए; यह कल्पना कितनी उत्कृष्ट है।

४—आकाश में दिन का दृश्य उसके हलके रंग, चिड़ियों के उड़ने तथा सूर्य की प्रभा से व्यक्त करना चाहिए। रात का दृश्य तारकों के द्वारा दिखाना चाहिए। चाँदनी रात हो तो फूले हुए कुमुद भी बनाए जायँ। पर्वतों में शिलाजाल, पेड़, धातुओं की खान, झरने और साँप लिखना चाहिए। वन में अनेक प्रकार के वृक्ष, पक्षी तथा दरिन्द जानवर दिखाने चाहिएँ। नगर को देव-मन्दिर, राजप्रासाद, हाट और शोभन राजमार्ग से युक्त बनाना चाहिए।

इसी प्रकार ऋतु-चित्रों के लिये भी सूक्ष्म ब्योरे दिए हैं। वसंत के चित्र में फूले हुए वृक्ष, मधुपों की भीड़, कूकती कोयलें और प्रहृष्ट नर-नारी होने चाहिएँ। ग्रीष्म के चित्र में क्लान्त मनुष्य, छाया में छिपे हुए खग-मृग, कीचड़ में सने महिष तथा सूखे जलाशय होने चाहिएँ। वर्षा-चित्र में तोय से नम्र घन, इंद्रधनुष, बिजली का कौंधा और वृष्टि होनी चाहिए। शरत्-चित्र का अंकन स्वच्छ आकाश, पके हुए धान के खेत हंस और पद्म से पूरित भरे हुए जलाशय आदि से होना चाहिए। हेमन्त के चित्र में फसल कट जाने से परपट जमीन तथा दिगन्त में कुहरा आदि होना चाहिए। शिशिर के चित्र में कौओं और हाथियों में हर्ष किंतु मनुष्यों में शीत का त्रास एवं दिगन्त को और भी अधिक कुहराच्छन्न होना चाहिए। ऋतु-चित्रों में अन्य विशेषताएँ प्रकृति का निरीक्षण करके अंकित करनी चाहिएँ।

५—नवरस के चित्रों में ये विशेषताएँ होनी चाहिएँ—श्रृंगार रस के चित्र में कांति, लावण्य, माधुर्य, सुंदर वेशाभरण। २—हास्य-रस के चित्र में बौने, कुबड़े, टेढ़े-मेढ़े अंग और अद्भुत रूपवाले; व्यर्थ की चेष्टा और विचित्र हाव-भाव करते हुए। ३—करुण चित्र में याचना, वियोग एवं विरह, अपनी प्रिय वस्तु वा प्राणी का त्याग वा विक्रय, विपत्ति और सहानुभूति। ४—रौद्र चित्रों में कठोरता तथा क्रोध। ५—वीर रस के चित्रों में प्रतिज्ञा, शौर्य, औदार्य तथा उत्साह। ६—भयानक चित्र में दुष्ट, दुदर्शन एवं उन्मत्त व्यक्तियों तथा हिंस्र जीवों का अंकन। ७—वीभत्स चित्र में श्मशान तथा गर्हित एवं वध-भूमि आदि। ८—अद्भुत-रस के चित्र में अनेक भावों का विचित्र समवाय और ९—शांत रस के चित्र में सौम्य आकृति, ध्यानस्थ आसन बाँधे हुए साधक तथा तपस्वी।

घर में श्रृंगार, हास्य तथा शांत रस के चित्र ही अंकित होने चाहिएँ। अन्य चित्र या तो देव-मंदिर में बनाए जायँ या राजसभा में। राजसभा को छोड़कर राजा के निजी घरों में भी ऐसे चित्र नहीं बनाने चाहिएँ।

६—चित्रण के लिये **जमीन** तैयार करने के तथा रंगों के उपादान एवं उनके बनाने के ब्योरे भी दिए गए हैं। मूल-रंग पाँच माने गए हैं—नीला, पीला, लाल एवं सफेद तथा काला।

यह उल्लेख भी है कि चित्रकार को अपने घर में चित्रण नहीं करना चाहिए। इस विधान का भावार्थ विद्वानों ने कई प्रकार किया है किंतु सीधा

अर्थ यह जान पड़ता है, जैसा कि आज भी घरानेदार चित्रकारों की परम्परा है, कि घर में काम करने से कारीगर उन्नति नहीं कर पाता। जब तक बाहर निकल कर चार कारीगरों का मुकाबला नहीं करता तब तक उसकी विद्या जहाँ की तहाँ रह जाती है; बल्कि बिगड़ने लगती है।

७—**कलम** की कमजोरी, मोटी रेखाएँ, असम विभाग, बेमेल रंगों का प्रयोग, रस का अभाव, भाव-रहित दृष्टि तथा गंदापन एवं चेतना का अभाव, ये चित्रों के दोष हैं। उचित प्रमाण, उचित विभाग, माधुर्य और सादृश्य एवं सजीवता, ये चित्रों के गुण हैं। जिस चित्र में ऐसा जान पड़े कि चित्रस्थ मूर्ति में प्राण स्पंदित हो रहे हैं वही चित्र शुभ-लक्षण-सम्पन्न है। जो चित्रकार सोए व्यक्ति में सोई हुई चेतना और मृत में उसका अभाव दिखाने में समर्थ होता है तथा जिसके बनाए सादृश्य निशाने की तरह ठीक बैठते हैं (शल्यविद्ध) वही चित्र-विद्या का जानकार है (§ ४—सादृश्य)।

चित्रों के सौन्दर्य का रहस्य समझनेवाले उसकी रेखाओं से उसकी उत्तमता-अनुत्तमता का निर्णय करते हैं। जो उनसे कम समझदार हैं वे **परदाज** देखकर फैसला करते हैं। स्त्रियाँ चित्र के आलंकारिक अंश की गुन-गाहक हैं और इतर जन रंगों की तड़क-भड़क पर जाते हैं।

जहाँ चित्र बने होते हैं वह घर सूना नहीं लगता। सब कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है; यह मांगल्य और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को देनेवाली है। अजंता आदि के चित्रों से प्रत्यक्ष है कि चित्र-सूत्र कोरा शास्त्र न था बल्कि उसके सिद्धान्त एवं विधान पूर्ण रूप से बर्ते जाते थे।

ख—**उत्तररामचरित**—भवभूति की यह अमर रचना इसी काल की है। इसका प्रसंग चित्रों से ही प्रारम्भ होता है। भगवान् रामचन्द्र के पास अष्टावक्र ऋषि आए हैं। वे बातें कर ही चुके हैं कि लक्ष्मण आ जाते हैं और भगवान् से कहते हैं कि "उस चित्रकार ने हमारे बतलाने के अनुसार आपके चरित इस भीत के ऊपरी भाग में उरेहे हैं, उन्हें आर्य देखें"। इस-पर सीता देवी और महाराज उन चित्रों को देखने लगते हैं। उनमें सीता की अग्नि-परीक्षा तक की पूरी रामायणी कथा अंकित है। पहले उन दिव्यास्त्रों के मूर्तिमान् चित्र हैं जो रामचन्द्र को ताड़का-वध के लिये विश्वामित्र से प्राप्त हुए थे। भगवान् उन्हें देखकर सीतादेवी से प्रणाम कराते हैं कि वे दिव्यास्त्र उनकी गर्भस्थ संतति को अनायास प्राप्त हो जायँ। फिर मिथिला के वृत्तान्त हैं। उन्हें देखकर मैथिली कहती हैं—"अहो, यहाँ खिलते हुए नव-नील-कमल-से साँवले, स्निग्ध, मसृण, मांसल सुभग देहवाले आर्यपुत्र को बनाया है। उन्होंने शंकर के शरासन को

कुछ न गिनकर तोड़ डाला है और विस्मय-चकित मेरे पिता (जनक) एकटक उनके भोले मुँह को, जिस पर काकपक्ष शोभित हैं, देख रहे हैं"।

लक्ष्मण उन्हें दिखाते हैं—"यह तो देखिए, आपके पिता तथा पुरोहित शतानंद, वसिष्ठ आदि समधियों की अर्चा कर रहे हैं"।

राम कहते हैं—"यह देखने ही योग्य है; विदेहों और रघुओं का संबंध, जहाँ दोनों ओर विश्वामित्र ही समधी हैं, किसे न रुचेगा"।

सीतादेवी वैवाहिक दृश्य को देखकर कहने लगती हैं—"यह, आप चारों भाई गोदान-मंगल करके विवाह-दीक्षित हुए हैं। अहो, ऐसा लगता है कि मैं उसी स्थान और उसी समय में हूँ"।

राम को भी वैसा ही भान होता है, और वे सीता का ध्यान पाणिग्रहण के दृश्य की ओर आकर्षित करते हैं। भवभूति ने इस स्थल पर सीता के हाथ का वर्णन जिन सुन्दर शब्दों में किया है उससे पता चलता है कि आलेखन में कितना स्वारस्य रहता था।

लक्ष्मण, और ब्योरे में पैठकर भरत की वधू मांडवी और शत्रुघ्न की वधू श्रुतकीर्त्ति के चित्र दिखाते हैं। इसी के बाद इस प्रसंग का सर्वोत्तम अंश आता है। ऊर्मिला (लक्ष्मण-पत्नी) के चित्र को इंगित करके सीता लक्ष्मण से पूछती हैं—"वत्स, और यह कौन है"? लक्ष्मण लजा जाते हैं और मन ही मन मुसकरा कर प्रसंग बदलने के लिये परशुराम-काण्ड के चित्र दिखाने लगते हैं।

क्रमशः वे लोग राम के किष्किंधा पहुँच जाने तक के चित्रों को देखते हैं और उनके हृदय में प्रसंगानुकूल भाँति भाँति के भावों की क्रिया एवं प्रतिक्रिया होती है।

यह सुन्दर और लम्बा प्रसंग उस समय के जीवन से चित्रों के घनिष्ठ संबंध का विशद परिचायक है। ये चित्र ऐतिहासिक नहीं, जीवन की घटनाओं के संरक्षण के लिये बनाए गए थे (§ ६), सो तो उस घरेलू आन्तरिक बातचीत से स्पष्ट है जिसका कुछ अंश ऊपर अवतरित है।

फुटकर उल्लेख—हर्षचरित से ज्ञात होता है कि राजा की भेंट में अन्य वस्तुओं के साथ चित्रण की सामग्री भी होती थी।

इन दिनों चित्रविद्या राजकुमारों की शिक्षा का एक अंग थी। दशकुमारचरित में उल्लेख है कि कुमार उपहारवर्मा ने स्वयं अपना चित्र बनाया था। सम्भावना होती है कि यह प्रथा पुरानी थी, क्योंकि कथासरित्सागर के अनुसार उदयन का कुमार नरवाहनदत्त चित्रकला, मूर्तिकला और संगीत में निष्णात था।

महावंश लिखता है कि महाराज ज्येष्ठतिष्य स्वयं चित्रकार थे और अपनी प्रजा

को इस विद्या में शिक्षित करते थे।

नायक-नायिका में प्रेम उत्पन्न होने के जो तीन मुख्य हेतु हैं उनमें प्रत्यक्ष-दर्शन और स्वप्न-दर्शन के साथ साथ चित्र-दर्शन भी है। प्राचीन साहित्य में इसके अनेकानेक उदाहरण पाए जाते हैं जो मुख्यतः इसी काल से चलते हैं।

शयनागार तथा सूतिकागृह तक के चित्रण विषयक कई उल्लेख मिलते हैं।

§ २२. **बृहत्तर भारत के पूर्व मध्य कालीन चित्र—अपर-भारत—** तिब्बत से उत्तर और चीन से पश्चिम जो बड़ा भू-भाग पामीर तक फैला है उसमें प्राचीन काल से तुखार और ऋषिक नामक वन्य एवं अनिकेत आर्य जातियाँ रहती थीं। अशोक के समय में वहाँ भारतीय बस्ती की नींव पड़ी और यहाँ के प्रवासी वहाँ का अन्धकार दूर करने में प्रवृत्त हुए। २सरी शती ई० पू० से चीनियों ने भी इस काम में हाथ बटाया। खुतन की, जो उक्त भू-भाग का एक मुख्य स्थान है, एक पुरानी ख्यात है कि वहाँ विजय-सम्भव नामक एक राजा हुआ जिसके समय में आर्य-वैरोचन ने पहले पहल तुखार-ऋषिकों को भारतीय लिपि सिखाई जिसके कारण उनकी भाषाओं के सब ग्रन्थ ब्राह्मी-जनित लिपि में लिखे गए। वैरोचन का शिक्षा-प्रचार लग० १०० ई० पू० में हुआ। इसके बाद से वहाँ भारतीय और उनकी संस्कृति इस प्रकार जम गई कि आजकल के ऐतिहासिकों ने इस भूभाग का नाम, प्राचीन इतिहास में, अपर-भारत (सर-इंडिया) रखा है। इस भारतीय संपर्क के कारण ईसवी सन् के आरम्भ से पहले ही तुखार-ऋषिक बहुत कुछ सभ्य हो गए थे तथा उनके द्वारा चीन और भारत का संबंध भी स्थापित हो गया था।

१८९६ ई० से स्व० ऑरेल स्टीन, अध्यापक ग्रनवेडेल तथा डा० लेकॉक आदि विद्वानों ने अपर-भारत में खोज आरम्भ की और वहाँ के अनेक स्थानों से, मुख्यतः तकलामकान में बालू के नीचे से प्राचीन सभ्यता की अनेक वस्तुएँ और अवशेष निकाले। इनमें कितने ही सुंदर भित्ति-चित्र, लकड़ी पर बने चित्र-फलक तथा सूती एवं रेशमी कपड़े पर बने चित्र-पट भी हैं, जिनमें भारतीय शैली की प्रमुखता के साथ साथ चीनी तथा ईरानी कला का पुट भी पाया जाता है। इनमें के कुछ मुख्य चित्रों का परिचय यहाँ दिया जाता है।

मीरान में दो भग्न मंदिर मिले हैं जिनमें भित्ति-चित्र भी हैं। इनमें से एक में बेस्संतर-जातक का चित्रण है जिसका **संयोजन** इस जातक की भरहुत वाली प्रस्तर-मूर्ति के अनुसार है, जिसकी प्रतिकृति कुषाण काल के गांधार शिल्पियों ने भी अपनी प्रस्तर-कला में की है। मीरान का उक्त चित्रण ई० ४थी शती का है किंतु अपर-भारत के अधिकांश चित्र ७वीं ८वीं शती के ही हैं। इनमें दंदानउइलिक के चित्र मुख्य हैं। वहाँ के एक चित्र-फलक पर एक ओर त्रिमुख का आलेखन है जो दो बैलों पर बैठे हैं (फलक—७ख)। इसमें सारी मूर्ति और अंग-प्रत्यंग

भारतीय हैं. केवल बीच के और दाहिने मुख पर चीनी प्रभाव है। बाएँ **सवाचश्म** मुख की नाक और आँख में अपने यहाँ की मध्यकालीन वह विशेषता विद्यमान है जिसकी चर्चा ऊपर § २०ङ में हो चुकी है और विशेष रूप से अगले प्रकरण में की जायगी (§ २५)। यतः यह क्षेत्र बौद्ध है अतः यह चित्र लोकेश्वर का हो सकता है। इसी क्षेत्र से यह ध्यान चीन और जापान भी पहुँचा, जहाँ अब तक चल रहा है। इस चित्र-फलक की दूसरी ओर एक दाढ़ीवाले चतुर्भुज व्यक्ति, सम्भवतः बोधिसत्त्व का बैठा हुआ चित्र है जिसका पहिनावा, चपका हुआ अँगरखा और नोकदार बूट, ईरानी है। अन्यथा उसकी हस्तमुद्रा, कान के कुन्डल आदि पूर्णतः भारतीय हैं।

दंदानउइलिक् का सबसे प्रसिद्ध आलेखन एक भित्ति चित्र है जिसमें एक छोटे से पद्मतड़ाग में खड़ी हुई एक स्त्री है, जिसके कान, कण्ठ, भुजा तथा हाथ में भारतीय आभूषण हैं एवं उसी प्रकार कमर में क्षुद्रघण्टिका की चार लड़ें हैं। इसकी ठवन, हस्तमुद्रा और अँगुलियों का लचाव भी सर्वथा यहीं का है। साथ में एक छोटा सा बालक है। दोनों मुखाकृतियों पर चीनी प्रभाव है। पृष्ठिका में ध्यानी बुद्ध का चित्र है तथा बगल में दो बौद्ध स्थविर बने हैं। इनमें भी केवल मुख पर चीनी प्रभाव है। चेहरों का यह चीनी-पन वहाँ के मनुष्य मुखों की अनुकृति के कारण है।

कूचा क्षेत्र में अनेक गुफाओं में चित्र हैं जिनमें पर्याप्त भारतीयता है, उदाहरणार्थ वहाँ ब्रह्मा, इंद्र और पार्वती तथा नंदी सहित शिव के चित्र मिलते हैं। एक स्थान पर बादल से बिंदु-ग्रहण करते हुए चातकों का चित्र है। इन बादलों में सर्पाकृति बिजली बनी है। इस प्रकार का अंकन राजस्थानी चित्रों में बहुत इधर तक पाया जाता है।

भारतीय पुरातत्व विभाग ने अपर-भारत में संगृहीत चित्रादि का एक विशाल संग्रहालय दिल्ली में बना दिया है जिससे वहाँ की कला और प्रत्न के अध्ययन में बड़ी सुविधा हो गई है।

चीन, कोरिया तथा जापान—चीन में भारतीय चित्रकला अपर-भारत द्वारा हो गई, और वहाँ से कोरिया होती हुई जापान पहुँची। चीनी सम्राट् यांग-टी (६०५-६१७ई०) के दरबार में खुतन का एक चित्राचार्य था। वहाँ के लेखकों के अनुसार उसका और उसके पुत्र का, भारतीय शैली के बौद्ध चित्र बनाने में बड़ा ऊँचा स्थान था। कोरिया में, वहाँ से जापान में, मुख्यतया इसी चित्राचार्य के पुत्र ने भारतीय चित्रण का प्रचार किया। पुरानी जापानी कला में सुस्पष्ट भारतीय प्रभाव का यही कारण है। इस प्रकार के पूर्व-मध्यकालीन (लग० ८वीं शती) अनेक उदाहरण वहाँ के होरिउजी और नारा वाले बौद्ध विहारों के भित्ति चित्रों में विद्यमान हैं (फलक—७ क)।

जिस प्रकार अपर-भारत से भारतीय चित्रकला चीन-कोरिया-जापान तक पहुँची उसी प्रकार वहीं (अपर-भारत) से उसका प्रभाव ईरान, लघु एशिया, अरब एवं मिस्र तक व्याप्त हुआ।

चौथा अध्याय

§ २३. उत्तर-मध्यकाल (१०वीं-११वीं शती ई० से १५वीं शती ई० के उत्तरार्ध तक)—यों तो मध्यकाल के साथ ही--जिसका आरम्भ राजनीतिक इतिहास के अनुसार यशोधर्मा के बाद अर्थात् ५४० ई० से और सांस्कृतिक दृष्टि से उसके कुछ बाद अर्थात् ६ठी शती के आरम्भ वा पूर्वार्ध से होता है--विंध्योत्तर भारत का ह्रासयुग आरम्भ हो जाता है, हमारा मस्तिष्क मानों अपने को पूर्णता तक पहुँचा मान कर आगे बढ़ना छोड़ देता है, जीवन के सभी व्यापारों में—संस्कृति के सभी अङ्गों में—हमारी ऊर्जस्विता एवं ओजस्विता का अभाव हो जाता है और राष्ट्र अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने लगता है, परन्तु १०वीं-११वीं शती से तो
५ यह ह्रास सर्वतोमुख सड़ाव और अधःपतन को पहुँच जाता है। तभी से कोई चार-छः सौ वर्ष

का, उत्तरोत्तर दुरवस्थावाला समय उत्तर-मध्यकाल है। राजनीतिक कल्पना के अनुसार इस काल के माप में कुछ—कुछ ही—अन्तर पड़ता है। यहाँ, चित्र-कला की दृष्टि से, इसकी व्याप्ति का समय दिया गया है।

§ २४. **उत्तर मध्यकालीन चित्र-शास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों में चित्र-चर्चा**—उक्त दुरावस्था की ओर चित्रकला भी ढुलक चली थी, इसका आभास हम ऊपर पा चुके हैं (§ २० ङ)। इस काल में पहुँचकर, संस्कृति के अन्य सभी अंगों की भाँति वह भी, देश के अधिकतर भागों में, अधःपतित हो चुकी थी। इस सम्बन्ध में आगे विशेष विवेचन की आवश्यकता पड़ेगी; एकाध प्रश्न के निर्णय के लिये, जिनके विषय में हम अन्य विद्वानों से भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, अधिक ब्योरे में पैठना पड़ेगा (§ ३५ ख), अतएव अन्य कालों की भाँति यहाँ, पहले इस काल के चित्रों का वर्णन न करके हम चित्र-विषयक वाङ्मय और अन्य वाङ्मय में उसके उल्लेख के विवरण देने में प्रवृत्त होंगे—

क—अभिलषितार्थचिन्तामणि—११२६ ई० में चालुक्यवंशीय सोमेश्वर भूपति ने उक्त वा 'मानसोल्लास' नाम का एक विश्वकोषात्मक ग्रन्थ लिखा जिसे मैसूर विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में वस्तु-विद्या के अन्तर्गत चित्रकला पर भी एक लम्बा प्रकरण है जिसकी कतिपय मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

सोमेश्वर अपने को चित्र-विद्या-विरंचि कहता है। उसके मतानुसार चित्र चार प्रकार के होते हैं—१–विद्ध-चित्र, जिसमें दर्पण के प्रतिबिम्ब की भाँति सादृश्य हो (मिलाइए चित्रसूत्र का शल्यविद्ध, § २१ क ७ तथा § ३५ क ४ टि० २)। २—अविद्ध चित्र, जिसे चित्रकार तरंग उठने पर बनावे अर्थात् काल्पनिक या भावोपपन्न। ३—रस-चित्र, अर्थात् रसों की अभिव्यक्ति करनेवाले चित्र जिनके देखते ही दर्शक का उन रसों से तादात्म्य हो जाय। हमने देखा है कि रस-चित्रों की चर्चा चित्र-सूत्र में भी हुई है (§ २१ क ५)। ४—धूलि-चित्र जिसका उल्लेख हम आरम्भ में ही कर आए हैं (§ ५)।

भित्ति-चित्र बनाने के लिये भीत का पलस्तर कैसा होना चाहिए और उसे कैसे बनाना चाहिए, उस पर लिखाई करने के लिये **जमीन** कैसे तैयार करनी चाहिए, इसका भी ब्योरेवार वर्णन है। **जमीन** एवं रंगों में पकड़ के लिये सरेस दिया जाता था जिसे वज्रलेप कहते थे। यह भैंसे की ताजी खाल से बनता था। इसके बनाने की विधि भी दी है।

पलस्तर पर जमीन तैयार करके (अर्थात् **अस्तर-बट्टी** करके) भावुक एवं सूक्ष्म रेखा-विशारद चित्रकार चिंतन द्वारा अर्थात् अन्तर्दृष्टि से देखकर, उस

पर अनेक भाव और रस वाले चित्र अच्छी रेखाओं और समुचित रंगों से बनाता था। आलेखन के लिये वह **कलम** के सिवा पेन्सिल की-सी किसी चीज का भी प्रयोग करता था जिसका नाम वर्तिका दिया है। इससे पहले इसी से आकार टीपता था, फिर गेरु से उसकी **सच्ची टिपाई** करता था, तब समुचित रंग भरता था, ऊँचाई दिखलाने के लिये उजाला (लाइट, और निचाई के लिये साया (शेड) देता था। तैयार चित्र के हाशिए की पट्टी काले रंग से करता था और वस्त्र, आभरण, **चेहरई** आदि की **खुलाई** महावर (= आलता, अलक्तक) से करता था। भित्ति-चित्र के ही विचार से अन्य चित्र भी बनते थे। इसके उपरान्त शुद्ध और मिश्रित रंगों का वर्णन है।

चित्रों में सोने के उपयोग का विधान पहले-पहल इसी ग्रन्थ में पाया जाता है। चित्रों के लिये सोने के तबक से हलकारी सोना बनाने की जो प्रक्रिया इसमें दी है वह आजकल की प्रक्रिया से अधिक भिन्न नहीं। जिस प्रकार आधुनिक चित्र-कार चित्र पर सोना लगाकर उसे **मोहरे** से इसलिये घोटते हैं कि वह चमक उठे उसी प्रकार उस समय शूकर के दाँत से यह काम लिया जाता था।

इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न रुखों और अंगों के प्रमाणों एवं शारीरक का बड़ा लम्बा वर्णन है।

ख—इस काल के अन्य वाङ्मय में के कुछ मुख्य उल्लेख इस प्रकार हैं—

१—मागधी प्राकृत की जैन कहानी **सुरसुन्दरीकहा** में (रचना-काल १०३८ ई०) चित्रों के उपयोग के कई प्रसंग मिलते हैं—इसके तीसरे अंश में एक श्लेष-चित्र की बहुत ही सुन्दर कल्पना है। कोई नायक एक ही नायिका पर रीझा है, अन्य की ओर उसका ध्यान नहीं है। इस बात को एक अवमानिता एक भ्रमर और कुमुदिनी-राजि का चित्र बनाकर व्यक्त करती है कि मधुर एक का रस लेने में अन्य सबों को भूल गया है। इस चित्र के नीचे चित्रकरी ने एक उपयुक्त पद्य भी लिख दिया था।

इससे यह भी जान पड़ता है कि मुगल, राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों की प्रवृत्ति के प्रतिकूल उस समय ऐसे चित्र भी अंकित होते थे जिनमें मानव आकृति का होना आवश्यक न था। इस काल की एक चित्रित जैन पोथी में सूर्योदय का दृश्य है। उसमें भी मानव आकृति नहीं है। इसी प्रकार एक उल्लेख मिलता है कि किसी राज प्रासाद में, फर्श पर मोर-पंख का एक ऐसा चित्र बना दिया गया था कि राजा उसे वास्तविक समझ कर उठाने लगा और उसके नख में चोट आ गई।

२—प्राकृत की ही एक अन्य जैन कहानी **तरंगवती** में तो एक ऐसा प्रसंग

आया है कि उस समय चित्र की प्रदर्शनियों का होना संभवित होता है—तरंगवती का नायक कहीं चला गया है अतः वह अपने घर में चित्रों का एक प्रदर्शन करती है कि शायद उसके द्वारा उसका पता चल जावे। यह ग्रंथ हमारे वर्णनीय समय के कुछ पहले पादलिप्ताचार्य्य ने लिखा था किंतु इसकी पुनरावृत्ति और संक्षेपण इसी काल में हुआ था।

३—विल्हणकृत **कर्णसुन्दरी** (रचना-काल १०६४ ई०—१०६४ ई०)में नायक का अनुराग नायिका का चित्र देखकर उत्पन्न होता है।

४—हेमचंद्राचार्य के **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** से पता चलता है कि राज-भवनों में एक चित्र-सभा रहती थी जिसमें भित्ति-चित्र बने होते थे और यह काम अनेक चित्र-कारों में (जिनकी इस समय तक भी श्रेणियाँ अर्थात् पंचायती संस्थाएँ होती थीं) बाँट दिया जाता था।

५—वृहत्कथा के दोनों सारांश, सोमदेव-कृत **कथासरित्सागर** तथा क्षेमेंद्रकृत **वृहत्कथामंजरी,** इसी काल में निर्मित हुए। इनमें चित्रों के जो वर्णन भरे पड़े हैं उन्हें वृहत्कथा के समय का ही निदर्शक न मानना चाहिए वल्कि इन संक्षेपकों के समय तक की बात भी समझनी चाहिए, क्योंकि कहानियों के ग्रंथों में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं।

इन कथा-ग्रंथों के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जनता की उस समय चित्र-कला में रुचि थी और संस्कृति में उसे प्रमुख स्थान प्राप्त था; केवल पेशेकार चित्रकार और चित्र-कारिणि ही नहीं होती थीं वल्कि राजा से लेकर प्रजा तक सभी श्रेणी के स्त्री और पुरुषों में इसका अभ्यास और प्रयोग प्रचलित था। प्रणय और परिणय में इनका विशेष उपयोग होता था। समाज में चित्रकारों का आदर था और चित्र, साहित्य में दर्शनीय वस्तुओं में था। **कथासरित्सागर** में एक जगह शबीहों (व्यक्ति चित्र) के चित्राधार (अलबम) का जिक्र आया है। मुगलों के जमाने में ऐसे चित्राधारों का बड़ा रिवाज था। किन्तु यह निर्विवाद है कि वे इस प्रथा को अपने संग न ले आए थे। अतएव सम्भवतः यह इसी भारतीय रीति का अनुकरण था; जिस तरह उन्होंने यहाँ की और सैकड़ों बातें अपना ली थीं।

कथासरित्सागर की एक कहानी में यह प्रसंग आया है कि एक चिकने खम्भे पर चित्रकार ने चित्र बना दिया जिसे मूर्तिकार ने तराश कर मूर्ति में परिवर्तित कर दिया। सम्भवतः ऐसी ही प्रथा उस समय थी। आज दिन भी मूर्तिकार को चित्रकार, मूर्तियों के लिये नकशा (स्केच) देता है।

कथासारित्सागर में कई ठिकाने चित्र-पट को भीत पर टाँगने की चर्चा भी है। जान पड़ता है कि इस काल में भित्ति-चित्रों के बदले अधिकतर यही रिवाज था। नेपाल-तिब्बत में चित्र-पट के लटकाने की प्रथा आज भी पाई जाती है। उक्त स्थानों की चित्रकला मुख्यतः

इसी काल की परम्परा में है, अतएव यह प्रथा उक्त अनुमान की पोषक है।

§ २५. **इस काल के चित्र**—भित्ति-चित्रों का जमाना सम्भवतः पूर्व मध्यकाल के साथ बीत चुका था। वेरूल (§ २० ङ) में भोज के भतीजे उदयादित्य (१०५९–१०८० ई०) के बनवाए भित्ति-चित्र हैं किन्तु इनके सिवा इस काल के भित्ति-चित्र का कोई विशिष्ट उदाहरण अभी तक नहीं मिला। यों तो अपने यहाँ मुख्यतः जनपद में, भित्ति-चित्र-कला की परम्परा आज तक चली आई है[1], बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने यहाँ के छोटे चित्रों का विधान भी सर्वथा भित्ति-चित्रों पर अवलम्बित है अर्थात् भित्ति-चित्रों और अन्य चित्रों की शैली में यहाँ, योरप की भाँति अन्तर नहीं है, किन्तु भित्ति-चित्रों के उत्कर्ष और प्रमुखता का युग पूर्व मध्यकाल तक ही मानना पड़ेगा।

क—**पाल शैली**—अब इस काल के पुस्तक-चित्र ही मुख्यतः प्राप्त हैं, शैली के अनुसार जिनके दो भेद हैं। इनमें से एक तो १०वीं शती तक के बङ्गाल, बिहार (मुख्यतः नालन्दा और भागलपुर के निकट विक्रमशिला के) और नेपाल में लिखित **प्रज्ञापारमिता** आदि महायान बौद्ध पोथियों के और उनके इधर उधर के पटरों पर के चित्र हैं। यहाँ उन्हीं का परिचय दिया जायगा। दूसरे की सविस्तार चर्चा आगे की जायगी (§ २५ ख, ख १)। ये पोथियाँ बहुत बढ़िया जाति के ताल-पत्र (राजताल) पर लिखी होती हैं। पत्रों का माप प्रायः २२¼″ × २¼″ होता है। इन पत्रों पर तात्कालिककूट वाली बड़ी ही सुन्दर और जमी हुई देवनागरी में लिखा रहता है कभी-कभी अक्षर सफेद और चारो ओर के भाग काले में मिलता है अक्षर बिलकुल एक नाप-जोख के और सुम्मे (पंच) से कटे हुए जान पड़ते हैं तथा उनकी स्याही का चमकीलापन आज ज्यों का त्यों दीखता है। इन पत्रों पर बीच बीच में महायान देवी-देवताओं, बुद्धचरित और दिव्य बुद्धों के चित्र बने रहते हैं (फलक—★१) और इधर-उधर के पटरों पर बुद्ध की जीवनी तथा जातकों के दृश्य रहते हैं। इनमें लाल (सिंदूर, हिंगुल तथा महावर), नीला (लाजवर्त तथा नील), सफेद एवं काला, ये मूल रंग तथा इनके मिश्रण से उत्पन्न हरे, गुलाबी, बैगनी, फाखतई आदि रंगों का प्रयोग मिलता है। जहाँ जिस रंग का प्रयोग है वहाँ अधिकतर, उसी की गहरी रंगत से किंवा कहीं कहीं स्याही से, खुलाई की गई है। सोने का प्रयोग इनमें नहीं पाया जाता। पटरों पर के चित्रों पर उनकी रक्षा के लिये लाख चढ़ी होती है।

शैली की दृष्टि से उक्त तीनों केन्द्रों के ऐसे चित्र प्रायः अभिन्न हैं। यदि कोई अन्तर है तो यही कि नेपाल के कुछ चित्रों की मुखाकृति में कुछ मंगोलपन पाया जाता है जिसका कारण और कुछ नहीं, वहाँ के मानव रूप का प्रभाव है।

१—'भीतिनि चित्र उरेहल हो'–ग्रामगीत।

१६वीं शती के तारीनाथ नामक तिब्बती इतिहासकार लिखित बौद्ध इतिहास में भारतीय चित्रकला का इतिहास भी है। उससे जान पड़ता है कि ७वीं शती में पश्चिम भारत में, मारवाड़ से एक चित्र-शैली प्रचलित हुई और ६वीं शती से पूर्व भारत में एक शैली चली। पहले तो नेपाल के चित्रकार पश्चिम भारतीय शैली में काम करते थे किन्तु पीछे से पूरबी शैली को अपना लिया था। यही पूरबी शैली उक्त चित्रों की होनी चाहिए क्योंकि प्रायः ऐसे सभी चित्रित ग्रन्थों में पाल संवत् वा पाल राजाओं का उल्लेख मिलता है जिनका साम्राज्य पूरबी भारत में था। अतएव इस शैली को **पाल-शैली** कहना अनुचित न होगा। ६वीं शती से पूरबी भारत में चित्रण-शैली के चलने का राजनीतिक तात्पर्य यही हुआ कि पालों के समाश्रय में जिस प्रकार एक मूर्ति-कला प्रचलित हुई उसी प्रकार, प्रायः उसी क्षेत्र में इस चित्रकला का विकास हुआ।

इस शैली में अजन्ता (§§ १२–१६ तथा § २० क) की परम्परा की विशेषताएँ सजीव रूप में पाई जाती हैं, यद्यपि साथ ही साथ ह्रास की विशेषताएँ भी दीख पड़ती हैं, जो मुख्यतः ये हैं---ध्यानों का एक निश्चित रूप; अंगों, मुद्राओं और ठवन के अकड़-जकड़; अतिरिक्त लम्बी नाक **सवाचश्म** चेहरों की अधिकता। यह अतिरिक्त लम्बी नाकवाले वा परली आँख यद्यपि वेरूळ (§ २० ङ) वा दन्दानउइलिक के (§ २२ अपर-भारत) किंवा आगे (§ २५ ख) उल्लिखित तथा-कथित जैन शैली के चित्रों की भाँति चेहरे की सीमा के बाहर निकली हुई नहीं होती फिर भी पाल शैली के सवाचश्म चेहरे उक्त आलेखनों से बहुत मिलते हैं। इनमें के किसी किसी सवाचश्म चेहरे में उक्त विशेषताएँ भी पाई जाती हैं।

फिर भी इस काल की दूसरी शैली से, जिसकी चर्चा इसके बाद की जायगी, इसमें ह्रास के चिह्न अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और इसे पूर्व मध्यकालीन चित्रों के संग आसन मिल सकता है। इसका कारण बौद्ध प्रभाव हो सकता है क्योंकि यह कला, जैसा कि हमने अभी कहा है; पालों की समाश्रित थी जो बौद्ध थे। साथ ही उस समय भारत में बौद्धधर्म भी मुख्यतः नेपाल, बिहार और बंगाल ही में बच रहा था। तारानाथ ने भी इस बात का लक्ष्य किया है कि जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म था वहाँ अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कला का ह्रास कम हुआ था।

ये पाल पोथियाँ दुष्प्राप्य हैं। देश में इनके उदाहरण नेपाल के राजकीय पुस्तकालय तथा राजगुरु हेमराज के पुस्तकालय एवं कलकत्ते की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, आचार्य अवनींद्रनाथ ठाकुर के संग्रह तथा श्री अजित घोष के संग्रह में और काशी के कला-भवन संग्रहालय में तथा बड़ौदा के संग्रहालय आदि में हैं। विदेश में इनके अनेक उदाहरणों में से मुख्य, बोस्टन (अमरीका) के संग्रहालय में हैं।

ख—**तथाकथित जैन, गुजरात वा पश्चिम-भारत-शैली**—श्वेतांबर जैन

सम्प्रदाय के—निशीथचूर्णी, अंगसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, नेमिनाथचरित्र, कथारत्नसागर, संग्रहणीयसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, तथा कल्पसूत्र+कालककथा इत्यादि, इत्यादि—ग्रन्थों की तालपत्र पर लिखित ११०० ई० से १५वीं शती के मध्य तक की सचित्र प्रतियों में तथा उसी शैली की कागद पर लिखी १४वीं शती के प्रायः अन्त तक की प्रतियों में एक खास शैली के चित्र उरेहे गए हैं (फलक—८ क, ख)। फलक ८ क का विषय दो मुनियों का वार्तालाप है। चित्र की संस्थिति पर्वत के शिखर पर है। चित्रकार ने पर्वत पर बड़े बड़े वृक्षों को अतिलघु रूप में अंकित कर पर्वत की महत्ता लक्षित कराया है, परन्तु वह दृश्य के महत्त्वपूर्ण अंश पर फोकस कर हमारा ध्यान इन जैन मुनियों की ओर आकृष्ट करता है जो तत्व-चिंतन में लीन है।

चित्र का संपुजन एक अलंकार के रूप में हुआ है तथा पेड़ों के गुच्छे उनकी आकृति आदि भी उस अलंकार के बीच छोटे छोटे **अभिप्राय** हैं। राजस्थानी शैली की आलंकारिकता का पूर्व रूप हमें इन चित्रों में पूर्ण रूप से दीखता है।

फलक ८ ख में कथा के दो दृश्य अङ्कित हैं। इसमें अपभ्रंश शैली की नागर शैली के रूपों को अपभ्रष्ट रूप में रक्षित रखने की विशेषता पूर्ण रूप से दीख पड़ती है। जैसे जंगल में सरोवर, चतुष्कोण में अर्धवृत्त रेखाएँ उरेह कर लक्षित कराया गया है।

अपने चित्रों में महा-जन को बड़े आकार में और इतर-जन को छोटे में दिखलाने की परम्परा इस चित्र में दीखती है। ऊपर राजा और उनके अनुयायिवर्ग को अङ्कित करने में चित्रकार ने इसी परम्परा का निर्वाह किया है। नीचे वही राजा एक जैन मुनि से उपदेश ले रहा है। इस शैली की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

> प्रायः सब चेहरे **सवाचश्म** तथा एक कैंडे के, जिनकी नाक परले गाल से आगे को निकली हुई, कुछ कुछ गरुड़ की याद दिलानेवाली; ठुड्डी अतिरिक्त छोटी और आम की गुठली के आकार की जिससे हनु बहुत दूर और उसकी हड्डी उभरी हुई; आँखें पास पास तथा उनकी आकृति परवल की खड़े बल कटी हुई फाँक जैसी; जिनकी कटाक्ष-रेखा दूर तक बढ़ी हुई और पुतली अतिरिक्त छोटी; परली आँख चेहरे की सीमांत रेखा के बाहर निकली हुई मानो अलग से जोड़ी गई; ऐंठी हुई अँगुलियाँ जैसे वायुरोग के कारण उनकी यह दशा हुई हो एवं उनके सिरे ऐसे बोदे कि वे कपड़े की बत्तियाँ हों; वक्ष अतिरिक्त रूप से आगे निकला हुआ; उदर इतना कृश कि पिचका हुआ जान पड़े; अंगभंगी मुद्राएँ एवं आसन बिलकुल अकड़े-जकड़े हुए; पशु-पक्षी कपड़ों के गुड्डों-जैसे; प्रकृति अर्थात् बादल, वृक्ष, पर्वत, एवं नदी आदि की **लिखाई** आलंकारिक; चित्रों में प्रयुक्त रंगों की संख्या बहुत अल्प जिनमें लाल और पीले की प्रधानता; आकृतियों की खुलाई

अर्थात् सीमांत रेखाएँ स्याही से की गई और इतनी भोंड़ी कि वे रोएँ की-**कलम** (ब्रश) से, जिसे आजकल लोग भूल से कूँची कहते हैं, की गई जान नहीं पड़ती है बल्कि ऐसा मालूम होता है कि नित्र की तरह किसी धातु की कलम से की गई है (**कलम** की **खुलाई** में एक तेजी रहती है और उसकी रेखाएँ छोर तक पहुँचते पहुँचते पतली हो जाती है यह नहीं कि जिस मुटाई में वे चली आ रही हो उसी में उनका अन्त हो जाय); **लिखाई** में जल्दबाजी कमजोरी और कम-कारीगरी।

इस शैली का नामकरण पहले पहल जैन-शैली किया गया। इसका कारण यह था कि उस समय तक इस शैली के चित्रों का परिचय केवल जैन पोथियों से मिला था। यह नाम यद्यपि अब छोड़ दिया गया है फिर भी यहाँ उसके अनौचित्य का ब्योरा देना आवश्यक जान पड़ता है क्योंकि यह विषय अभी हिंदी-जगत् के लिये अपरिचित सा है।

कम से कम अपने देश की कला में कभी संप्रदाय-परक भेद नहीं रहा है। उसमें जो कुछ अंतर है सो राजनीतिक युग वा काल-परक है। अतएव ब्राह्मण कला वा श्रमण (=बौद्ध, जैन) कला, ऐसा नामकरण सर्वथा अयुक्त है। शुंगकाल, कुषाणकाल, गुप्तकाल एवं मध्यकाल की मूर्ति वा वास्तु कलाओं में किंवा चित्रों में कोई भी संप्रदाय-परक विभेद नहीं पाया जाता। यह दूसरी बात है कि उन उन संप्रदायों की विशेषताओं के कारण उनकी कलात्मक कृतियों में एकाध निजस्व हो किंतु उनका व्यापक रूप एक है।

यही सिद्धांत तथाकथित जैन कला के विषय में भी लागू होता है। सित्तनवासल (§ २० घ) के जैन चित्र अजंता (§§ १२-१६ तथा § २० क) वा बाघ (§ २० ख) के चित्रों से बिलकुल भिन्न नहीं। फिर १६वीं शती के तीसरे चरण से, भारतीय कला के पुनरुत्थान के बाद, जैन-विषय के चित्रों की कोई भिन्न शैली नहीं रह जाती। जहाँगीर-कालीन शालिवाहन के अंकित जैन चित्रों से लेकर आज तक के जैन चित्रों की कोई अलग शैली नहीं है। ऐसी दशा में सित्तनवासल-वेरूल के बाद १५वीं शती के तीसरे वा अधिक से अधिक अंतिम चरण तक एक अलग जैन शैली का अस्तित्व रहा हो, यह असंभव है।

यह बात अवश्य है कि उक्त हजार आठ सौ बरस तक जैन संप्रदाय का प्रभाव देश के एक बहुत बड़े हिस्से पर व्याप्त था। फलतः इस काल के अधिकांश चित्र ग्रन्थ जैन संप्रदाय के ही हैं। ऐसे ग्रंथ आज भी हजारों की संख्या में प्राप्त हैं: इसका कारण यही है कि जैन मतावलंबी अपने धन और धार्मिकता के लिये सदा से अद्वितीय रहे हैं; अतएव वे अपने ही लिये सचित्र सांप्रदायिक ग्रन्थ नहीं तैयार कराते थे बल्कि बहुत बड़ी संख्या में उनकी प्रतियाँ तैयार कराकर बाँटते भी थे। इन चित्रों में पाई जानेवाली ह्रास की उक्त विशेषताओं का एक

कारण यह भी है कि बड़ी तादाद में माँग होने से, उक्त प्रतियाँ बहुत जल्दी में प्रस्तुत की जाती थीं।

किंतु उक्त प्रभाव का यह तात्पर्य नहीं कि एक अलग जैन शैली रही हो। चित्र-कला पर जैन प्रभाव केवल इस रूप में पड़ा कि इस व्रत-तपस्यावाले मत में प्रयुक्त होने के कारण अनेक शतियों तक इस (चित्रकला) का रूप भी बहुत कुछ निगृहीत रहा; जैन ग्रन्थों के चित्रों वा अक्षरों के ११वीं शती से १५वीं शती के प्रायः अंत तक के मिलने वाले उदाहरणों में कोई विशेष परिवर्तन न मिलेगा, जिसके विपरीत जहाँगीर (§ ४०) और शाहजहाँ-कालीन (§ ४५) चित्र-शैलियों में कितना अंतर हो जाता है।

'जैन शैली' नाम का समर्थन कुछ लोगों ने यह मानकर भी किया कि ये चित्र जैन साधुओं के बनाए हुए हैं; किंतु ऐसा मानने की कोई गुंजाइश नहीं पाई जाती। ये चित्र कुपढ़ चित्रकारों के बनाए हुए हैं जिन्होंने अपनी सूचना के लिये पोथियों की आयु (हाशिए) पर कहीं कहीं चित्रों के विषय निर्देश टाँक लिए हैं। इन चित्रों की आकृति बिलकुल बँधी होने के कारण कभी-कभी उन चित्रकारों ने उन आकृतियों को कतिपय इनी-गिनी रेखाओं द्वारा आयु पर **लिख** भी लिया है जिन्हें हम **बीज-चित्र** कह सकते हैं। इनके सहारे वे पूरा चित्र बना लेते थे। बोस्टन म्यूजियम वाले एक कल्पसूत्र की आयु पर इस तरह के चित्र बने हैं। कहीं कहीं इन चित्रकारों ने, निरक्षरता के कारण, चित्र को बेठिकाने भी बना दिया है। इस शैली के उत्साही खोजी श्री० साराभाई नवाब को १५वीं शती के दो चित्रकारों के नाम भी मिले हैं[1], जिनसे यह स्पष्ट है कि ये चित्रकार जैन साधु न थे। अतएव उस समय के जैन साधुओं को चित्रकार मानना निरी कल्पना है।

'जैन-शैली' नाम इस कारण भी सदोष है कि ऐसे चित्र, जैसा हमने आरंभ ही में कहा है, केवल श्वेतांबरीय जैन ग्रन्थों में मिलते हैं।

१९२५ ई० के लगभग गुजरात के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् स्व० आचार्य केशवलाल हर्षदराय ध्रुव को कपड़े पर लिखित और चित्रित एक लम्बा खर्रा मिला। यह वसंत-विलास नामक शृंगारिक मुक्तक काव्य की प्रति है जिसमें संस्कृत और प्राचीन गुजराती के छंदों का संकलन है। इसका लिपिकाल १४५१ ई० है और लिपि-स्थान अहमदाबाद। इसमें पहले छंद और उसके बाद चित्र दिए गए हैं जिनकी संख्या उन्यासी है। ये चित्र सर्वथा उक्त शैली के हैं। इस आविष्कार से हमारे चित्र के इतिहास का एक नया अध्याय प्राप्त हुआ। इसका विषय सर्वथा ऐहिक होने के कारण, जो जैन विद्वानों से असंबंधित ही नहीं सर्वथा विपरीत भी है, जैन-शैली नाम का अंत हो गया। पहले-पहल श्री न्हानालाल चमनलाल मेहता

१—भारतीय विद्या, १९४५

ने इन चित्रों का परिचय प्रकाशित किया और इनके अहमदाबाद में बने होने के कारण, उन्होंने इस शैली का नवीन नामकरण गुजरात-शैली किया जिसे उस समय प्रायः सभी विद्वानों ने मान लिया। किंतु आगे चलकर इस विषय में कुछ मत-परिवर्तन हुआ, फिर भी यह नाम अंशतः चल रहा है।

इसके बाद तो इस शैली के कितने ही चित्रित अजैन ग्रंथ मिले, यथा—बालगोपाल स्तुति, गीतगोविंद, दुर्गासप्तशती, रतिरहस्य (कामशास्त्र) एवं एक कथा-काव्य इत्यादि। इनकी प्राप्ति से जैन-शैली हवा हो गई, साथ ही 'गुजरात-शैली' नाम के परिवर्तन की आवश्यकता भी प्रतीत हुई क्योंकि अब इस शैली के कितने ही ऐसे ग्रंथ भी मिल चुके थे जिनका चित्रण-क्षेत्र गुजरात के बाहर था। अतएव डा० कुमारस्वामी ने 'पश्चिम-भारत-शैली' नाम का प्रस्ताव किया। उनकी मुख्य दलील यह थी कि प्राप्त ग्रंथों में से जो गुजरात के बाहर के हैं वे राजपूताने के हैं अतः यह शैली वही है जिसके विषय में तारानाथ (§ २५ क) ने लिखा है कि ७वीं शती में पश्चिम भारत—मारवाड़—से एक चित्र-शैली चली। किंतु यह नाम भी माना नहीं जा सकता।

हो सकता है कि तारानाथ की उक्ति ठीक हो और इस प्रकार के चित्र पहले-पहल मारवाड़ में ही बनने लगे हों, फिर भी इस नाम में दो दोष हैं, एक तो यह शैली पश्चिम भारत तक ही सीमित नहीं। तारानाथ ने ही बताया है कि यह नेपाल में पहुँच गई थी। उपलब्ध उदाहरणों द्वारा हम इसको बहुत विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त पाते हैं।

मालवे के गढ़मांडू में (जो धार से तेईस मील है) प्रस्तुत की गई इस शैली की सचित्र जैन पुस्तकों की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं। अहमदाबाद के श्री साराभाई मणिलाल नवाब ने, जिन्होंने इस प्रकार के चित्रों पर विशेष शोध किया है और जैन चित्रकल्पद्रुम नामक एक सुंदर ग्रन्थ भी प्रकाशित किया है, जिसमें इस शैली के सैकड़ों सादे और रंगीन चित्र हैं, वहाँ (मांडू) की कोई साठ सचित्र प्रतियों का नोटिस लिया है और इनमें से एक के चित्र अपने उक्त ग्रंथ में प्रकाशित भी किए हैं। यही नहीं मालवे के सुप्रसिद्ध नरेश भोज (लग० १००६-१०५४ ई०) और उसके आगे पीछे की पीढ़ियों के कई ताम्रपत्र समय-समय पर पाए गए हैं, उन पर भी इसी शैली वाला गरुड़ का चित्र खुदा मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह शैली मालवे में चल रही थी।

इसी प्रकार काशी के पड़ोसी जौनपुर में इस शैली के चित्र बनते थे। श्री सारा-भाई को, यहाँ प्रस्तुत किया गया सचित्र कल्पसूत्र मिला है। इसका लिपिकाल १५२२ वि०= १४६५ ई० है। इसका लिपिकर पं० कर्मसिंह का पुत्र वेणीदास गौड़ कायस्थ है। यह एक मार्के की बात है; क्योंकि गौड़ कायस्थ पूर्व की ही जाति है। अतः यह प्रति निश्चित

रूप से पूर्व की कृति है। श्री साराभाई से मुझे ज्ञात हुआ कि इसके सिवा उन्होंने जौनपुर के ऐसे और भी, कम से कम तीन, कल्पसूत्र देखे हैं। तात्पर्य यह कि उक्त प्रति कोई आकस्मिक घटना नहीं; जौनपुर भी इस शैली का एक केंद्र था।

जौनपुर में इसके एक डेढ़ शती बाद तक चित्रकार बसते थे। इनकी एक जाति बन गई थी जिससे स्पष्ट है कि उनके पेशे की परंपरा बहुत पुरानी थी। ऐसी परिस्थिति में यह निर्विवाद है कि जौनपुरी कल्पसूत्रों के चित्रकार इसी १६वीं १७वीं शती वाले चितेरे जाति के पूर्वज थे। उनके लिये यह कहना कि वे किसी और ठिकाने से जौनपुर आकर कल्पसूत्र चित्रित किया करते थे—द्रविड़प्राणायाम होगा। साथ ही चित्रकारों की एक गृहस्थ जाति के रूप में विद्यमानता जैन साधुओं के चित्रकार होने के विरुद्ध प्रमाण भी है।

भारत-कलाभवन में अवधी भाषा के किसी अज्ञात-नाम कथा-काव्य के छः पन्ने हैं, जिनपर इसी शैली के चित्र बने हैं (फलक—८ ग)। इसी अवधी काव्य का एक पृष्ठ है। इसमें एक हृदय-दृश्य अंकित है जो मध्यकालीन काव्यों का एक बहुप्रचलित **अभिप्राय** है। रात का दृश्य है जो पृष्ठिका में तारावली तथा ऊपर प्रकाशमान दीपकों से लक्षित होता है। एक ओर परशुधर प्रहरी सजग बैठा है पर उसकी दृष्टि से हटकर एक राजकुमार कमन्द फेंक रहा है जिसके सहारे नायिका को उतरना होगा। राजकुमारी नायिका सोत्साह बढ़ रही है और एक सहचरी भी अपने साथ खींचती ले जा रही है।

इस चित्र में की शैली यद्यपि **अपभ्रंश** है जिसके **चेहरे** विरूपाक्ष बने हैं परन्तु सारे के सारे चित्र में गति और जीवन है। सम्भवतः यह उस काल का है जब लोक में संस्कृति कुछ कुछ उद्बुद्ध हो उठी थी।

यहीं तक बस नहीं। इस शैली के चित्र बंगाल और उड़ीसा में भी मिले हैं। बंगाल में तो यह शैली अपेक्षाकृत बहुत इधर तक जीवित थी। वहाँ का कोई तीन सौ वर्ष पुराना, बंगाक्षर में लिखा, बालग्रह नामक ग्रन्थ श्री साराभाई के संग्रह में है जिसमें इस शैली के चित्र हैं। बंगाल के पटचित्रों तथा पुस्तक की पटरियों में भी इसकी परम्परा पाई जाती है। इसी प्रकार उड़ीसा के जगन्नाथजी के चित्रपटों तथा पुस्तक पटरियों में भी यह कला अद्यावधि जीवित है।

वेरूल (§२० ङ) में भोज के भतीजे उदयादित्य के बनवाए ११वीं शती के कुछ ऐतिहासिक भित्ति-चित्रों का उल्लेख इस अध्याय के आरंभ में हो चुका है (§ २५)। उनमें पुरुषों की मुखकृति; बढ़ी हुई नाक और परली आँख; निर्गत उदर और अंगों की जकड़ साफ साफ इसी शैली की है।

दक्षिण भारत में इस शैली के चित्र १४वीं शती तक बनते थे (§ २५ ख १)।

बृहत्तर भारत में बरमा के पगान नामक स्थान में ११वीं से १३वीं शती तक के इस शैली के भित्ति-चित्र मिलते हैं। इस काल की स्याम की चित्रकला में भी इसकी विशेषताएँ पाई जाती हैं।

इतनी व्याप्ति वाली चित्रकला को 'पश्चिमभारत शैली' नाम देना ठीक नहीं। यदि कहा जाय कि 'इसका अंकुर तो पश्चिम भारत से फूटा', तो ऐसा कहने की भी गुंजाइश नहीं, क्योंकि इस दलील के विरुद्ध वह दूसरा दोष लागू होता है जिसकी चर्चा हमने ऊपर रहने दी थी—

बात यह है कि इस शैली का कोई भावात्मक (पॉज़िटिव) निजस्व हई नहीं। ऊपर हमने इसकी जो विशेषताएँ गिनी हैं वे अभावात्मक हैं; अर्थात् वे कहीं से भी प्रगति वा नवीनता-द्योतक नहीं। वे तो केवल उस ह्रास की पूर्णता हैं जिसका आरंभ पूर्व मध्यकाल में वेरूल (§२०ङ)में हो चुका था और जिसकी झलक हम अपर-भारत वाले त्रिमुख के बाएँ मुख में भी पा चुके हैं (फलक—७ ख)। ऐसी अवस्था में इन चित्रों की कोई अलग शैली नहीं मानी जा सकती। शैली के लिये ह्रासोन्मुख नहीं, विकासोन्मुख विशेषताओं का होना लाजिमी है। तारानाथ (§ २५ क) की इस शैली-विषयक उक्ति का केवल मर्म यही हो सकता है कि—यह ह्रास ७वीं शती में मारवाड़ से, जो उस समय सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से गुजरात के अंतर्गत था, आरंभ हुआ। इस कला की अधिकांश कृतियों के गुजरात और बृहत्तर गुजरात में बनी होने कारण भी उक्त मर्म का समर्थन होता है; अर्थात् वही प्रदेश इसका मुख्य केंद्र था। इस बात का और समर्थन होता है ११वीं शती वाले पादताडितकम् नामक प्रहसन के एक अंश से। हास्यप्रिय रचयिता कहता है—

लाट देश (आधुनिक गुजरात) के चित्रकारों, इन डिंडियों और वानरों में विशेष अंतर नहीं। ये कूँची[1] और स्याही की मैल लिए इधर उधर घूमा करते हैं तथा भीतों और उन-पर बने हुए चित्रों को चील बिलार खिंचाकर नष्ट करते रहते हैं। रचयिता यहाँ जो व्यंग्य करता है, उसकी तह में सचाई है। इस चित्रकला में जान और नई कल्पनाओं के अभाव तथा

१—चित्रकार चित्र लिखने के लिये गिलहरी वा उससे मिलते-जुलते जानवरों की पूँछ के रोएँ से बनी ज़िस तूलिका का उपयोग करते हैं उसे वे **कलम** कहते हैं। कूर्च कुश को कहते हैं। उसी से कूँच नामधातु बना है, अर्थात् किसी वस्तु को आघात द्वारा कूर्च जैसा बनाना। अतः कूँची तो उसी उपकरण को कहते हैं जो बाँस या सरकंडे का छिलका आदि कूँचकर बनाते हैं, जिनसे राजमजदूर घरों की सफेदी करते हैं। आज-कल के हिंदी-लेखक जो चित्रकार की कलम के लिये 'कूँची' शब्द का व्यवहार करते हैं इस बारीकी को नोट करें और उक्त प्रहसन के व्यंग पर भी ध्यान दें जो जान-बूझ के डिंडियों के वास्ते तूलिका न कहकर, उप-हास के लिये कूर्चिका कहता है।

रूढ़ियों पर चलने के कारण और उन (रूढ़ियों) का वास्तविक अर्थ भूल जाने के कारण, चित्रकार, उन्हें निरर्थक भद्देपन के रूप में लिख रहे थे। साथ ही स्याही का उपयोग भी वे बहुत अधिक करते थे। उनकी सारी खुलाई स्याही से ही हुआ करती थी, जैसा कि हमने ऊपर कहा है (§ २५ख)।

यों हम देखते हैं कि कला के इस ह्रास का, उक्त प्रहसन के समय से, गुजरात मुख्य केंद्र था। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह वहाँ की शैली थी। क्या देलवाड़ा, शत्रुंजय, गिरनार आदि के मंदिर-समूह उस समय वाले गुजरात-मंडल के अंतर्गत हैं? जो कारण उनके विषय में है वही इन चित्रों के संबंध में भी है। गुजरात उस समय जैन संप्रदाय का मुख्य केंद्र था, फलतः उसके लिये हजारों, हजार चित्रित पुस्तकें बनती थीं।

अतएव गुजरात को 'गुजरात शैली' नाम का आग्रह न करना चाहिए, जिसकी प्रवृत्ति आज गुजराती विद्वानों में पाई जाती है। एक प्राचीन और महान् संस्कृति की परंपरा रखते हुए भी गुजरात को एक ऐसे कला-आभास के पीछे न दौड़ना चाहिए जिसमें न सौंदर्य है, न रेखाओं का **दम-खम** और न कल्पना की उड़ान। यह ह्रास तो जैसे उपहास की चीज पादताडितकम् के समय था वैसा ही आज भी है।

अच्छा तो इन चित्रों का बोध कराने के लिये कौन-सा नाम उपयुक्त होगा?

कुछ वर्ष पहले हमने इसका नाम 'उत्तर-मध्यकालीन-शैली' विचारा था, परंतु उक्त अभावों के कारण यह भी पश्चिम-भारत-शैली की भाँति सदोष है; साथ ही इसमें अतिव्याप्ति दोष भी है. क्योंकि इसी काल की **पाल** (§ २५ क) तथा **कश्मीर शैलियाँ** (§ २५ ख) इस शैली के बाहर हैं। फलतः बहुत ऊहापोह के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इसका एक-मात्र समुचित नाम **अपभ्रंश शैली** हो सकता है।

जब इन चित्रों का आलेखन कोई नया उत्थान नहीं, प्राचीनशैली की विकृति मात्र है तो **अपभ्रंश** ही एक ऐसा शब्द है जिसके द्वारा उन विकृतियों की समुचित अभिधा एवं व्यंजना हो सकती है। इसी प्रकार उक्त विकृतियों के समवायरूपी जिस निजस्व से यह आलेखन बना है, उसके अर्थ में यहाँ **शैली** शब्द को लाना चाहिए।

इस सड़ाव और अधःपतन के युग में जिस प्रकार, चित्रकला का यह अपभ्रंश देश के अधिकांश में व्याप जाता है, उसी प्रकार प्राकृत भाषाओं का अपभ्रंश भी देश के अधिकांश में, साहित्यवाहक के रूप में, फैल जाता है। इतना ही नहीं, **अपभ्रंश शैली** का अथ से इति तक का काल तथा **अपभ्रंश भाषा** के साहित्य का आरंभ और समाप्तिकाल प्रायः एक है। अपभ्रंश भाषा से चित्रकला का यह स्वभाव-ऐक्य एवं सहगामित्व भी **अपभ्रंश शैली** नाम का समर्थक है। इस सहयोग को उस काल के विचक्षण कवि राजशेखर ने भी लक्ष्य किया था। तभी

उसने अपनी 'काव्यमीमांसा' में, चित्रकारों को—कविसमाज में—अपभ्रंश भाषा के कवियों के साथ बिठलाने का विधान किया है।

ख-१. **अपभ्रंश शैली के चित्र**—वेरूल वाले **अपभ्रंश शैली** के चित्रों के उपरान्त इसके सबसे प्राचीन उदाहरण श्वेतांबर जैन संप्रदाय की निशीथचूर्णी नामक ग्रंथ की ११००ई० की एक प्रति में हैं जो पाटन के संघवीना पाड़ा के ग्रंथ-भंडार में है। इसके बाद के उदाहरण भी तालपत्र पर लिखित श्वेतांबर जैन पोथियों में ही हैं, जिनका समय ११०० ई० से १५०० ई० तक है। इनमें की कई मुख्य प्रतियाँ ये हैं—१–खंभात के शांतिनाथ-भंडार में ११२७ ई० के ज्ञाता तथा तीन अन्य अंग सूत्र; २–उसी भंडार में ११४३ ई० की दशवैकालिक लघुवृत्ति; ३–बड़ौदे के निकट एक जैन पुस्तक-भंडार में ११६१ ई० की एक ही पुस्तक में ओघ-नियुक्ति आदि सात ग्रंथ, इनमें सोलह विद्या-देवियों, सरस्वती, लक्ष्मी, अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि के तथा कपर्दियक्ष और ब्रह्मशान्ति यक्ष आदि के एक्कीस चित्र हैं, (इनमें से सरस्वती के चित्र की परंपरा ग्वालियर राज्य के सोहानिया नामक स्थान में पाई गई पूर्व-मध्यकालीन सरस्वती की पाषाण प्रतिमा से मिलती है; ४–पाटन के उक्त भंडार में १२३७ ई० के त्रिषष्ठिशलाकापुरुष-चरित्र, दशम पर्व; ५–खंभात के उक्त भंडार में १२४१ ई० का नेमिनाथचरित्र; ६–पाटन के उक्त पुस्तक-भंडार में १३७६ ई० का कथारत्नसागर तथा ७–बोस्टन (अमरीका) के संग्रहालय में १३६० ई० का श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णी।

कपड़े पर के चित्रों में पाटन के उक्त ग्रंथ-भंडार का १४४३ ई० वाला चाँपानेर में प्रस्तुत हुआ पंचतीर्थी पट उल्लेखनीय है। इसके चित्रों की प्रतिकृति इंडियन आर्ट ऐंड लेटर्स नामक पत्र में (१६३२ ई० पृष्ठ ७१–७८,) प्रकाशित भी हो चुकी है। किंतु खेद, कि संप्रति इस पट का पता नहीं लग रहा है। इसके बाद वसंतविलास का नंबर है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। दैव-दुर्विपाक से अब यह भी वाशिंग्टन (अमरीका) की फ्रीर आर्ट गैलरी में पहुँच गया है।

अपभ्रंश शैली कागद पर के चित्र भी मुख्यतः पोथियों में पाए जाते हैं। इनमें से कुछ का इंगित ऊपर हो चुका है। कल्प-सूत्र की सबसे पुरानी ज्ञात चित्रित प्रति १४१५ ई० की है, जो रॉयल एशियैटिक सोसाइटी, बंबई के पुस्तकालय में है। इसी वर्ष की एक प्रति लीमडी के सेठ आणंद जी कल्याण जी की कोठी में है।

कागद की विशिष्ट प्रतियों में जौनपुर वाला कल्पसूत्र है जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है। यह स्वर्णाक्षरों में लिखा है और इस समय बड़ौदे के नरसिंहजीनी पोलवाले ज्ञानमंदिर में संरक्षित है। चित्रों के सिवा इसके हाशियों के अलंकार भी विविध और बड़े ही सुन्दर हैं।

अहमदाबाद में मुनि दयाविजय जी के शास्त्र-संग्रह में कल्पसूत्र की एक प्रति है

इसपर संवत् तो नहीं दिया है, किंतु संभवतः यह १५वीं शती के उत्तरार्ध वा उससे भी बाद की है। इस स्वर्णाक्षरी प्रति में **अपभ्रंश कला** अपनी उत्तमता एवं आलंकारिकता की पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। श्री नवाब की सम्मति में इसकी बराबरी करने वाली इस शैली की कोई चीज ज्ञात नहीं। इसके हाशियों पर राग-रागिनी एवं तान, मूर्छना तथा भिन्न भिन्न नृत्यों और भाव भंगी आदि के अनेक चित्र नाम सहित अंकित किए गए हैं, साथ ही ईरानी चित्रों की प्रतिकृतियाँ भी बनाई गई हैं।

जैनेतर (कागद पर लिखे) सचित्र ग्रंथों में बालगोपालस्तुति की एक प्रति बोस्टन संग्रहालय में, दूसरी गुजरात के श्री भोगीलाल जयचंद्र सांडेसरा के संग्रह में है एवं सप्तशती की प्रति बड़ौदे के प्रो० मंजुलाल मजमूँदार के संग्रह में है। भारत-कला-भवन वाले अवधी कथा-काव्य के पन्नों की चर्चा हो ही चुकी है (देखिये § २५ ख)। ऐसे जैनेतर ग्रन्थों की और प्रतियाँ भी मिलती जा रही हैं।

१३३६ ई० में तुंगभद्रा नदी के किनारे विजयनगर राज्य स्थापित हुआ। शीघ्र ही वह एक साम्राज्य में परिणत हो गया, जिसके अंतर्गत कृष्णा नदी के उस पार का समूचा दक्षिण भारत या और उससे भी शीघ्र १५६५ ई० में, एक गंधर्व नगर की भाँति ओझल हो गया ('मूर्ति-कला,' § १०७)। वहाँ के अधिपति बुक्कराय २तीय के मंत्री और सेनापति इरुगप्प ने १३८७-८८ ई० में जिन-कांची में एक संगीत-मंडप बनवाया और उसमें भित्ति-चित्र भी लिखवाए। अंश अभी तक बच रहे हैं। इनकी शैली सर्वथा **अपभ्रंश** है। वेरूल वा गुजरात के इस शैली वाले चित्रों से इनमें यदि कोई अंतर है तो इतना ही कि इनके चेहरे **सवाचश्म** न होकर **एकचश्म** हैं। **एकचश्म** चेहरे यों तो अजंता के शुंगकालीन चित्रों (§ ६) से लगातार चले आते हैं किंतु उनके रिवाज का सबसे पुराना ज्ञात नमूना रायचूर में मिला है। वहाँ के किले में पत्थर पर रेखा-चित्र खुदे हैं, जो १२६४ ई० के हैं। उनमें के चेहरे व्यापक रूप से **एकचश्म** हैं, अन्यथा वे **अपभ्रंश शैली** के हैं।

ग—**कश्मीर शैली**—तारानाथ (§ २५ क) लिखता है—कश्मीर के सबसे पुराने चित्रकार पुरातन पश्चिम शैली की 'मध्य-देशीय' उपशैली में के अनुयायी थे। किंतु पीछे हसुराज नामक कलाकार ने वहाँ की चित्रकला और मूर्तिकला में नई रीतियाँ चलाईं जो उसके (तारानाथ के) समय में, अर्थात् १६०० ई० में चल रही थीं।

खेद है कि इस विवरण के रहते हुए भी इस शैली के संबंध में आज तक कोई खोज नहीं की गई, केवल स्मिथ ने इसके संबंध में इतना अनुमान किया कि कश्मीर के सबसे बड़े सम्राट् ललितादित्य ने ७४० ई० के लगभग कन्नौज विजय किया था। उसी समय मध्यदेश से, तोहफे के तौर पर, वह अपने यहाँ चित्रकार भी ले गया होगा, जिन्होंने वहाँ, 'मध्यदेश' की

उपशैली का प्रचार किया होगा। यह कल्पना बड़ी क्लिष्ट है। मानो स्पेनवाले नई दुनिया के मैक्सिको का विजय करके वहाँ के कारीगरी अपने देश में ले गए हों! भारत में सनातन सूत्रात्मक एकता के होते हुए ऐसी कल्पना की आवश्यकता नहीं रह जाती। अपने यहाँ जिस प्रकार देश के किसी भी केन्द्र से धर्म, संस्कृति, समाजनीति और राजनीति आदि देश भर में छिटकती रही है उसी प्रकार मध्यदेशीय चित्रकला भी कश्मीर पहुँची होगी। साथ ही स्मिथ ने हसुराज का समीकरण कश्मीर की कुख्यात रानी दिद्दा (१००० ई०) के मन्त्री हंसराज से किया। किंतु राजतरंगिणी में इस विषय का कोई इङ्गित नहीं मिलता कि हंसराज कलाकार भी था।

वस्तुतः कश्मीर चित्र-कला का एक बहुत पुराना केन्द्र जान पड़ता है। अपर-भारत में भारतीय चित्रकला के प्रचार का काम मुख्यतः कश्मीर ही के द्वारा हुआ।

राजस्थानी शैली (§ २९), **मुगलशैली** (§ ३५), **और पहाड़ी शैली** (§ ४६) के निर्माण में भी **कश्मीर शैली** का हाथ रहा है। बल्कि यहाँ तक कहना अत्युक्ति न होगा कि अकबर-कालीन **मुगल शैली** अनेक अंशों में इसी **कश्मीर शैली** का रूपान्तर है; इसी प्रकार पहाड़ी शैली के उद्भव में भी इसका अंश है (§ ४९)। यहाँ पर केवल इतनी सूचना देनी है कि १५वीं शती से १८वीं शती तक के भारतीय चित्रकला के इतिहास में **कश्मीर शैली** का महत्त्वपूर्ण स्थान समझे बिना वा उसके विषय में पूरी छान-बीन किए बिना, कोई ठोस काम नहीं किया जा सकता, अतएव विद्वानों को इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

घ—**सिंहल के भित्ति-चित्र**—सिंहल के पोळोन्नारुअ नामक स्थान में अनेक मन्दिर और मूर्तियाँ हैं। उनमें से एक में १२-वीं १३वीं शती के कितने ही भित्ति-चित्र बने थे। खेद है कि समुचित रक्षण के अभाव में, हाल ही में, इनका अधिकांश नष्ट हो गया। इनमें जातकों के चित्र भी थे। शैली के अनुसार ये वेरूल (§ २०ङ) के उन भित्तिचित्रों के, जिनमें **अपभ्रंश-शैली** का आरंभ नहीं हुआ है एवं **पाल-शैली** के बहुत निकट हैं।

§ २६—उत्तर-मध्यकाल में वृहत्तर भारत की चित्रकला—

क—**तिब्बत, चीन, नेपाल**—राजनीतिक पूर्व-मध्यकाल के आरंभ में तिब्बत के लोग निरे जंगली थे। किंतु तीन ओर से भारतीय प्रदेशों और चौथी ओर से चीन द्वारा वहाँ प्रकाश पहुँचा। खुतन और कूचा में जो भारतीय लिपि प्रचलित थी वह ७वीं शती के आरंभ में तिब्बत भी पहुँच गई। ६३० ई० में स्रोङ्चन-गंबो ने वहाँ एक साम्राज्य स्थापित किया उसने नेपाल के राजा और चीन के सम्राट की बेटियाँ ब्याही थीं। वे दोनों बौद्ध थीं। तिब्बत के जीवन पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। ६४१ ई० में हर्ष ने अपने दूत चीन भेजे जो

दो वर्ष बाद तिब्बत के मार्ग से लौटे। इस प्रकार भारत और चीन के बीच तिब्बत का मार्ग कायम हुआ। इसके बाद तिब्बती शासकों ने भी नेपाल, मगध और कन्नौज से लगातार संबंध बनाये रखा।

६ठी शती में महायान संप्रदाय के अंतर्गत बौद्ध वाममार्ग, वज्रयान का जन्म दक्षिण भारत में हुआ। ७४७ ई० में नालंदा के आचार्य शांतिरक्षित निमन्त्रण पाकर तिब्बत गए। फिर १०४०-४२ ई० में विक्रमशिला से आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान तिब्बत गए। इस प्रकार वहाँ वज्रयान की जड़ जमी जो आज तक लामाधर्म के रूप में प्रचलित है। अस्तु, भारतीय धर्म के साथ-साथ भारतीय कला का भी तिब्बत में प्रचार हुआ। तिब्बत के १०वीं-१२वीं शती के चित्र **पाल-शैली** के बिल्कुल पास हैं। वहाँ से यह शैली मंगोलिया और चीन की ओर बढ़ी जिसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ के चित्रों में भारतीय प्रभाव की एक दूसरी लहर आई। फलतः इस काल के चीनी चित्रों में पहले से भी अधिक भारतीयता पाई जाती है।

चित्रविद्या के संबंध में तिब्बत, भारत के साथ-साथ, अपर-भारत का भी ऋणी है। वहाँ के ७वीं ८वीं शती के चित्रपट, विधान में तिब्बती पटों के पूर्वज हैं।

इसी भाँति चीन ने चित्रविद्या में यदि तिब्बत से लिया तो उसे दिया भी। फलतः तिब्बती कला में चीनी प्रभाव भी पाया जाता है और वहाँ (तिब्बत में) चित्रों के दो प्रकार मिलते हैं। एक तो जो प्रायः सर्वथा भारतीय है। इसके अंतर्गत वहाँ के पुराने भित्तिचित्र और चित्रपट हैं, जो रेशमी वा सूती कपड़े पर बनते हैं तथा जिन्हें वहाँ एवं नेपाल में 'थानका' कहते हैं। दूसरा, जिस पर चीनी प्रभाव है। तिब्बत के आधुनिक पट प्रायः इसी दूसरी श्रेणी के हैं। इनमें अधिकतर बुद्ध के रूप रहते हैं जिनका निर्माण **प्रमाण** के अनुसार, बँधे हुए नियमों पर, किया जाता है।[1] इनमें विशेष कला नहीं रहती। फिर भी कोई-कोई तिब्बती चित्रपट रंग और रचना की दृष्टि से बड़े मार्के के होते हैं। इस प्रकार का एक पट पटना संग्रहालय में है जिसमें भैरव वर्ग के किसी भयानक देवता का ध्यान है, जो अच्छी से अच्छी पाल-कालीन रचना से टक्कर लेता है; सारे चित्र की **झलक** (टोन) श्याम-कृष्ण (ब्ल्यू ब्लैक) है। तिब्बत तथा नेपाल में ऐसी सचित्र पोथियाँ भी तैयार होती आई हैं जिनमें पाल-कालीन पोथियों की परंपरा है। ये अकसर काले कागद पर सोने वा चाँदी के अक्षरों से लिखी होती हैं।

१—राहुल जी ने तिब्बती चित्रकला के विधान और **प्रमाण** आदि का प्रायः समग्र वर्णन ना० प्र० प० (नवीन०) भाग १८, पृ० ३२५-३४६ में किया है। इससे पाया जाता है कि पुराने भारतीय वा इधर के **मुगल शैली** आदि के विधान से वहाँ विशेष अंतर नहीं। यही विधान प्रायः सारे एशिया का है।

तिब्बत ने उक्त चीनी प्रभाव नेपाल को भी दिया। इस प्रकार यहाँ भी चित्रकला की भारतीय और चीनी प्रभाव युक्त शैलियाँ चली आती हैं। नेपाली चित्रपट (थानका) तिब्बती पटों का मुकाबला करते हैं और यहाँ भी अभी तक पाल-कालीन चित्रित पोथियों की परंपरा चालू है जिनमें तिब्बत की भाँति काली जमीन पर सोने चाँदी के अक्षर होते हैं। नेपाल रोगनी (अर्थात् तेल के पक्के रंगों वाले) चित्रपट भी बनाता है। संभवतः यह उसका निजस्व है, क्योंकि इस विधान पर न तो पश्चिमी प्रभाव है, न ऐसा काम तिब्बत आदि में होता है।

पीछे से नेपाल की चित्रकला पर मुगल-शैली का भी प्रभाव पड़ा। पर इसकी एक अलग शाखा है; धार्मिक चित्रों में वे ही विशेषताएँ और शैलियाँ चली आती हैं जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है।

जिस प्रकार तिब्बत ने चीन की चित्रकला को प्रभावित किया उसी प्रकार नेपाल ने भी अपने कलाकार उधर भेजे। इसका एक निर्दिष्ट उदाहरण प्राप्त है। १२७६ ई० में चंगेज खान के तीसरे उत्तराधिकारी कुब्लइ खान के शिल्प-कौशल संबंधी कारखानों का व्यवस्थापक एक नेपाली कलाकार नियुक्त हुआ। उसने अपने चीनी स्वामी के लिये बहुसंख्यक मूर्तियाँ और चित्र बनाए तथा शागिर्द भी तैयार किए।

नेपाल के चित्रकार तिब्बत में भी बसे और वहाँ की भारतीय परंपरा बनाए रहने में सहायक हुए।

१३वीं-१४वीं शती की तिब्बत, चीन, नेपाल की चित्रकला में आदान-प्रदान की धारा-प्रतिधारा के कारण एक व्यापक समानता है।

कश्मीर और तिब्बत का इस काल में और इसके बाद चित्र-विषयक क्या संबंध था, यह खोज की वस्तु है।

ख—**अपर-भारत**—इस काल में चीन, तिब्बत और सब से बढ़कर मंगोलों के आतंक-वश अपर-भारत की संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट हो रही थी, फिर भी वहाँ की चित्रकला किसी न किसी रूप में १३वीं शती तक जीवित थी, क्योंकि उसका संबंध धर्म से था और धार्मिक कृत्यों में अकसर चित्रों की आवश्यकता पड़ती थी एवं उपयोग होता था। मार्कोपोलो के यात्रावृत्तांत में इसके उल्लेख पाए जाते हैं।

ग—**बरमा तथा स्याम**—बृहत्तर भारत के पूर्वी भाग से हमारा संबंध प्रायः ६ठी शती ई० पू० से स्थापित हो गया था। क्रमशः वहाँ की असभ्यता दूर की गई और आर्य सभ्यता का प्रसार हुआ। ५८ ई० पू०—७८ ई० में वहाँ भारतीय बस्तियाँ खूब बढ़ीं और कई भारतीय राज्य स्थापित हो गए। इनमें से उस क्षेत्र में, जिसे आजकल बरमा कहते हैं, ई० ८वीं

शती में पुराने पगान में एक नई राजधानी निवेशित हुई। वहीं के कई मंदिरों (पगोडा) में भित्ति-चित्र बने हैं। इनमें अधिकांश ११वीं–१३वीं शती के हैं। उनमें कहीं तो **पाल-शैली** की छाप है और कहीं स्पष्ट रूप से **अपभ्रंश शैली** का आलेखन है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

स्याम में भी **अपभ्रंश शैली** से प्रभावित चित्र पाए गए हैं, इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। इनके सिवा वहाँ वाट सी-चुम में १४वीं शती के, पत्थर पर उत्कीर्ण कुछ रेखाचित्र हैं जिनमें स्यामी शैली की कोई विशेषता नहीं पाई जाती। वे सिंहल के पोळोन्नारुअ के उक्त १२वीं-१३वीं शतीवाले भित्ति चित्रों से इतने अधिक मिलते हैं कि, कुमारस्वामी के अनुसार, उन्हें सिंहली शिल्पियों ने ही बनाया है। स्याम की चित्रकारी जो—भित्ति-चित्र, पुस्तक-चित्र और चित्रपट के रूप में पाई जाती है—कभी बहुत ऊँचे दरजे तक नहीं पहुँची। हाँ, वहाँ लुक के काम (= लाक्षित, "लैकर) ने निस्संदेह बहुत उत्कृष्टता प्राप्त की है। इस शिल्प के मंदिर के द्वार और खिड़कियाँ किताबों के पुट्ठे एवं पेटियाँ बनती हैं।

पाँचवाँ अध्याय

§ २७. **१५वीं शती से सांस्कृतिक पुनरुत्थान**—राजनीतिक इतिहास के अनुसार मध्यकाल का अन्त और अर्वाचीन काल का आरंभ १५०६ ई० से होता है। किन्तु, जहाँ तक संस्कृति का संबंध है, १५वीं शती से एक निश्चित और व्यापक पुनरुत्थान प्रारंभ हो जाता है। यह वह समय था जब गुजरात, मालवा और जौनपुर की स्वतंत्र सल्तनतें स्थापित हो गई थीं। ये तीनों ही संस्कृति और उदार शासन की केन्द्र थीं।

इस सांस्कृतिक नवयुग के अंतर्गत हम जिन विषयों की उन्नति को गिनते हैं उन्हें अब एक-एक करके लेंगे—

क—**संगीत**—जौनपुर के इब्राहीमशाह शर्की (१४००—१४३६ ई०)

तथा उसके पौत्र हुसेनशाह शर्की (१४५७—१४७६ ई०) के दरबारों में भारतीय संगीत की विशेष उन्नति हुई। वहाँ से ख्याल-गायकी की एक नई पद्धति चली और कम से कम तीन नए रागों की उपज हुई।

इसी शर्की सल्तनत में उस इलाके के, जिसका केन्द्र कड़ा-मानिकपुर था, शासक मलिक सुल्तानशाह के पुत्र बहादुर मलिक ने संगीत के जीर्णोद्धार और संजीवन के लिये एक बृहत् सम्मेलन किया जिसमें चारों दिशाओं के कलावंतों को एकत्र करके तथा संगीतरत्नाकर आदि संगीत के अठारह ग्रंथों को बटोर कर सब विवादास्पद बातों का निर्णय कराया और १४२८ ई० में संगीतशिरोमणि नामक ग्रंथ प्रस्तुत कराया जिसमें कुल निर्णीत बातें निहित थीं। शीघ्र ही इस ग्रंथ का प्रचार दूर-दूर तक हो गया।

इसी समय के लगभग, मेवाड़ में प्रतापी और कलाप्रेमी महाराणा कुंभा का राज्य प्रारंभ हो चुका था। वह भी बड़ा संगीतप्रेमी. गायक और निपुण वीणा-वादक था। उसने संगीत पर संगीतराज नामक ग्रंथ लिखा, संगीतरत्नाकर और गीतगोविंद की टीका की तथा अनेक देवताओं की गेय स्तुतियाँ भी बनाईं। उधर कश्मीर में परम उदार शासक जैनुल आब्दीन अन्य कलाओं की उन्नति के साथ-साथ संगीत की उन्नति में भी प्रवृत्त था। उसके दरबार में भारतीय राग और पद गाये जाते थे तथा बीन बजती थी। उक्त संगीतशिरोमणि की एक प्रति उसके पास उपायन में पहुँची थी।

इन्हीं दिनों ग्वालियर का अधीश्वर मानतोमर हुआ जो संगीत का बहुत बड़ा कोविद और ध्रुपद गायकी का प्रवर्त्तक था। नायक चरार, बैजू आदि जो इन्हीं की शिष्य-मंडली में थे, देश में दूर-दूर तक फैल गये थे। इन्होंने मान-कुतूहल नामक संगीत के एक उत्कृष्ट ग्रंथ की रचना की थी जिसका मूल तो अभी तक अप्राप्य है किन्तु औरंगजेब कालीन फारसी अनुवाद मिल चुका है।

तिरहुत में विद्यापति और बंगाल में चंडीदास भी इसी शती में हुए। उनके गेय पदों के कारण उन प्रांतों में भी संगीत के यथेष्ट पुनरुत्थान की सम्भावना होती है।

सारांश यह कि देश भर में संगीत का पुनरुत्थान प्रारंभ हो गया था।

ख—**वास्तु**—उत्तर-मध्यकाल की आरंभिक शतियों के साथ वास्तु-कला एक प्रकार से अस्त हो जाती है। १३वीं शती के प्रारंभवाले कुतुब के लाठ के सिवा १५वीं शती तक मुसलिम वास्तु का भी ऐसा एक उदाहरण नहीं

जिसकी ओर अंगुलि-निर्देश किया जाय। किंतु १५वीं शती के साथ वास्तु का भी एक निश्चित नव-जीवन आरंभ होता है।

मेवाड़ में महाराणा कुंभा ने बड़े भव्य और सुन्दर मन्दिर, प्रासाद तथा कीर्ति स्तम्भ बनवाये। उसकी प्रजा ने भी उसका अनुकरण किया। कश्मीर, मालवा, गुजरात और बंगाल की सल्तनतों ने भी अच्छी अच्छी मसजिदें, मकबरे, सराय और महल बनवाये। इन सभी मुसलिम इमारतों का वास्तु और अलंकरण भरतीय है जिसमें सरसानी वास्तु और अलंकरण के केवल वे अंश लिये गये हैं जिनसे चारुता में कमी नहीं आ सकती थी।

मान तोमर का ग्वालियर दुर्ग और प्रासाद १४८६ ई० में तैयार हुआ। यह वास्तु का बड़ा उत्कृष्ट उदाहरण है। इस प्रकार यह लहर भी व्यापक थी।

ग—**भक्ति**—१४वीं शती के उत्तरार्ध में रामानंद ने, जो रामानुज की परंपरा में थे, देशभाषा के द्वारा अपना प्रचार आरंभ किया। वे बिना किसी भेद-भाव के सबको शिष्य बनाते थे। इसी १५वीं शती में इनके मुख्य शिष्य कबीर हुए जिनका महान् व्यक्तित्व धार्मिक मिथ्याचार और स्वेच्छाचार के विरुद्ध भभक उठा। उन्होंने शाक्त मत का, जिसका कई रूपों में उस समय जोर था, एवं हिंदू-मुसलिम की धर्मान्धता के कड़वे परिणामों का तीव्र विरोध किया और इन दोनों को निकट लाने के लिये सबसे पहले रहस्यमय निर्गुण भक्तिधारा बहाई। महाराष्ट्र में उनके तुल्यकालीन प्रसिद्ध भक्त नामदेव हुए जिन्होंने बाह्य साधनों का थोथापन बताकर मन की शुद्धि और हरि के ध्यान का सच्चा मार्ग दिखाया। इसी शती के उत्तरार्ध में निर्गुण भक्ति के सबसे सफल प्रचारक गुरु नानक (१४६८—१५३८ ई०) हुए और इसी शती के बीतते बीतते चैतन्य महाप्रभु (१४८५—१५३३ ई०) ने सगुण भक्ति का प्रचार करके वज्रयान और वाममार्ग से बंगाल का उद्धार किया। प्रायः इसी समयांतर में वल्लभाचार्य ने व्रज को अपना केंद्र बनाकर बड़ी उत्कृष्ट सगुण-भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने अपनी भगवत्सेवा-पद्धति में कलाओं को प्रमुख स्थान दिया। व्रज में आचार्य हित हरिवंश ने भी इसी शती में अपना संप्रदाय चलाया। वे उत्कृष्ट पद-रचयिता थे। उनके संप्रदाय ने गायकी को विशिष्ट प्रगति प्रदान की।

घ—**साहित्य**—विद्यापति ने १३८० ई० में अपनी अपभ्रंश की कीर्त्तिलता पूरी की। इसके कुछ ही बाद से १४४७ ई० तक वे मैथिल पद लिखते रहे। यही काल साहित्यिक संक्रांति का है, क्योंकि कीर्त्तिलता अपभ्रंश की

अंतिम गण्य पुस्तक है; दूसरी ओर उनके पदों की रचना ऐसी मैथिल में है जिसका मुँह अपभ्रंश की ओर नहीं, वर्तमान मैथिल की ओर है। उधर बँगला साहित्य का उदय राजा गणेश (१४०६—१५ ई०) के समय में हुआ। चंडीदास के प्रसिद्ध पद इसी काल के हैं। उधर कबीर ने पूरबी हिंदी में अपने पद, दोहे और झोल्ने रचे। नामदेव ने मराठी के साथ हिंदी रचनाएँ भी कीं।

इस शती के उत्तरार्ध में नानक ने निर्गुण भक्ति के पद गाये और इसके अंत होते-होते जो भी गायक हुए उन्होंने अपनी रचनाएँ कीं। इनमें से बैजू बावरा की रचना में पर्याप्त साहित्यिकता और व्रजभाषा की रीति-कविता का बीज निहित है। सूरदास के पदों का भी बनना संभवतः १५वीं शती से आरंभ हो गया था एवं रीति-कविता के प्रथम कवि गंग भी प्रायः इसी शती के अंत से कविता करने लगे थे।

इस शती के पिछले वर्षों से अवधी के कथा-काव्य भी बनने लग गये थे। यद्यपि इनका सबसे जगमगाता रत्न जायसी की पदमावत १६वीं शती के पूर्वार्ध की रचना है, किंतु उसके पहले की भी कम से कम चार रचनाएँ थीं जिनका इंगित जायसी ने किया है। इनमें से शेख कुतबन कृत मृगावती का रचना-काल १५०१ ई० है, शेष का उससे भी पूर्व। इस प्रकार कथा-काव्य के साथ ही अवधी के साहित्य का आरंभ भी १५वीं शती में स्थिर होता है।

इसी शती के अंतिम दशक में बीजापुर से, बैरागी सेना के प्रभाव-वश, दकनी हिंदी और उसके साहित्य का जन्म हुआ जो उर्दू और खड़ी बोली के वाङ्मय का मूल है।

इस प्रकार वाङ्मय का नवीन युग भी १५वीं शती से आरंभ होता है।

§ २८. **चित्रकला का पुनरुत्थान**—इस चौमुखे सांस्कृतिक पुनरुत्थान वाली शती में चित्रकला का पुनरुत्थान न हुआ हो, यह असंभव है।

क—ऊपर कह चुके हैं कि 'अपने यहाँ भित्तिचित्र की परंपरा आज तक चली आई है' (§ २५)। सो, महाराणा कुंभा के वास्तु में उसे निश्चयपूर्वक स्थान मिला होगा। इस काल के गढ़मांडू (मालवा) के भवन भी चित्रित किए गए थे। वहाँ के गदाशाह के भवन में अवशिष्ट मेदनीराय और उनकी पत्नी के चित्र इसके साक्षी हैं।

ख—रागमाला और उसके ध्यान इस शती में विद्यमान थे। फिर संगीत की इतनी उन्नति के साथ रागमाला के चित्रों की माँग न हुई हो, ऐसा नहीं हो सकता।

ग—कथा-काव्य की सचित्र प्रतियाँ और उसके बाद रीति-काव्य के छंदों के चित्र भी अपेक्षित रहे होंगे। और सर्वोपरि—

घ—जिन प्रवर्तकों ने लोक के विचार में उथल पुथल मचा दी थी उनके चित्र उनके अनुयायियों के लिये आवश्यक रहे होंगे।

ङ—इसी प्रकार सगुण भक्तिमार्ग के मुख्य उपास्य कृष्ण की लीला और स्तुतियों के चित्रों की भी बड़ी माँग रही होगी।

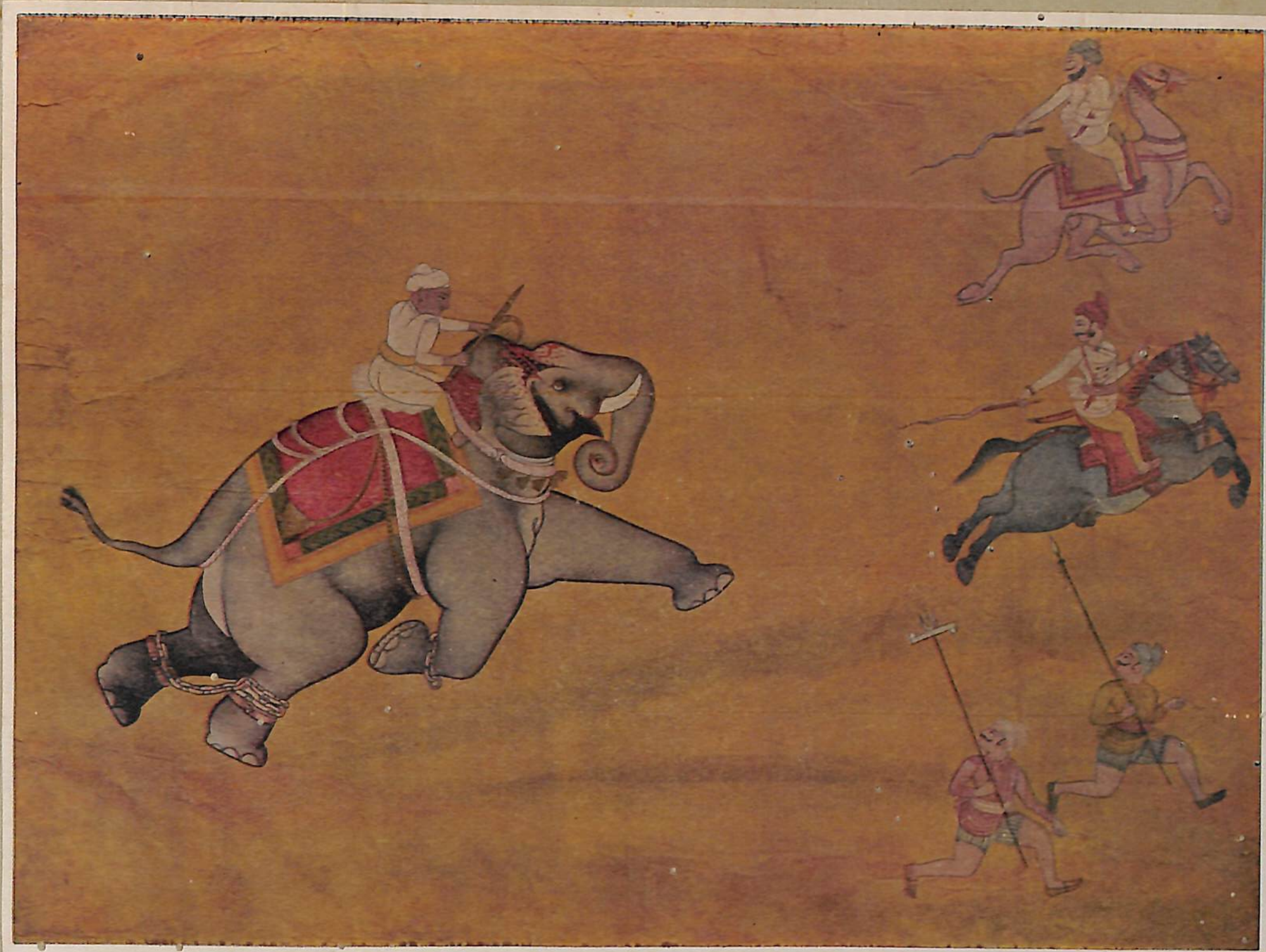
किंतु उक्त सब आवश्यकताओं को स्वीकार कर लेने पर भी प्रश्न यह खड़ा होता है कि इनकी पूर्ति के लिये जो चित्र बनते थे वे उत्तर-मध्यकाल में व्याप्त **अपभ्रंश शैली के** होते थे वा संस्कृति के अन्य अंगों की भाँति चित्रकला के भी दिन बहुरे थे।

भित्ति-चित्रों के संबंध में अभी तक कोई खोज नहीं हुई है, अतः उनका कोई सहारा नहीं रह जाता। रागमाला कथा-काव्य तथा कृष्णलीला और स्तुति के वे चित्र जिनकी चर्चा ऊपर यथाक्रम § २५ ख तथा § २५ ख १ में हो चुकी है, इसी शती के बने हुए हैं। उनसे उक्त प्रश्न के विरुद्ध उत्तर मिलता है, क्योंकि वे सब **अपभ्रंश शैली** के हैं।

परंतु जहाँ यह बात है वहाँ कुछ ऐसी बातें भी मिलती हैं जिनसे चित्रकला का नवयुग भी १५वीं शती से प्रमाणित होता है। यह उत्थान **राजस्थानी शैली** के रूप में था जैसा कि हम अभी देखेंगे।

§ २६. **राजस्थानी शैली**—क—उक्त अपभ्रंश चित्रों में से बालगोपालस्तुति की दोनों प्रतियों में वृक्षों की पत्तियों का जो आलेखन हुआ है उसमें **अपभ्रंश शैली** की परंपरा बिल्कुल छोड़ दी गई है और उसके स्थान पर एक दूसरा आलेखन काम में लाया गया है। यह आलेखन १६वीं-१७वीं शती के **राजस्थानी शैली** वाले चित्रों के वृक्षों का सद्यः पूर्वज है। इसी प्रकार **अपभ्रंश** चित्रों में स्त्रियों की चोलियों का अंकन रूढ़िगत चलता है, किंतु 'स्तुति' के चित्रों में उनका आलेखन उस प्रकार हुआ है जैसा उस समय की स्त्रियाँ पहनती थीं, अर्थात् उन चोलियों के आगे पीछे का पल्ला नीचे से थोड़ा थोड़ा खुला रहता है। आरम्भिक **राजस्थानी** चित्रों में यह बात बराबर पाई जाती है। 'स्तुति' की बोस्टनवाली प्रति में एक जगह **सवाचश्म** चेहरे के बदले **एकचश्म** चेहरा आया है जो **राजस्थानी शैली** का निजस्व है। इन विशेषताओं से जान पड़ता है कि उस समय **राजस्थानी शैली** चल पड़ी थी जिसकी उक्त विशेषताएँ **अपभ्रंश चित्रों** में ली गईं अन्यथा ये एसी संकीर्ण कला में कैसे आ जातीं?

इस शैली के पंजाब में बने, वहाँ की लोक कथा लौर चन्दा के चित्र लाहौर संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। इसी काल के कबीर, नान्हकदेव, हितहरिवंश और वल्लभाचार्य की



मस्त हाथी की दौड़

१९वीं शती; राजस्थानी शैली (बूंदी)

छवियाँ भी मिलती हैं। यद्यपि ऐसी शबीहों का समय अपेक्षाकृत इधर का है, किंतु उनकी आकृतियाँ इतनी निश्चित हैं और उनमें इतनी वास्तविकता है कि वे असंदिग्ध रूप से असल और समसामयिक चित्रों की पारंपरीण प्रतिकृतियाँ प्रमाणित होती हैं। इन चित्रों में **अपभ्रंश शैली** की कोई **धुन** नहीं मिलती और न उस शैली में ऐसी शबीह लिखने की शक्ति ही थी, अतएव ये तीनों ही छवियाँ मूलतः **राजस्थानी शैली** की हैं।

रूपमती और बाजबहादुर के वन-विहार और शिकार के चित्र तथा रूपमती की अकेली छवि भी परंपरा से चली आ रही है। इनमें भी मूल **राजस्थानी** प्रकृति अभी तक जीती जागती है। रूपमती-बाजबहादुर की कहानी १५६२ ई० तक तय हो चुकी थी। अतएव इन चित्रों के बीज उसके पहले के होने चाहिएँ।

ऊपर एक कल्पसूत्र की आयु पर बने राग-रागिनी और नृत्य के करण आदि के चित्रों का उल्लेख हुआ है (§ २५ ख १)। इनकी शैली अपभ्रंश होते हुये भी इनमें जो **पौने-दो** एवं **डेढ़चश्म** चेहरे हैं उन पर स्पष्ट **राजस्थानी शैली** का प्रभाव है। ऐसा प्रभाव इस शैली के अस्तित्व बिना कैसे पड़ता ?

इन प्रमाणों से **राजस्थानी शैली** का आरंभ १५वीं शती के उत्तरार्ध से १६वीं शती के पूर्वार्ध के बीच, संभवतः १५०० ई० के लगभग, असंदिग्ध रूप से प्रतिपादित होता है।

ख—**राजस्थानी शैली** का **अपभ्रंश शैली** से, विषयों में उतना अंतर नहीं है जितना विधान और आलेखन संबंधी कुछ बातों में। जहाँ तक विषयों का प्रश्न है, **अपभ्रंश शैली** की, **शबीह** के अभाव और जैन चित्रों की प्रचुरता के सिवा, आरंभिक **राजस्थानी शैली** से बहुत कुछ समानता है। दोनों में रागमाला, शृंगार, ऋतु और कृष्ण के चित्र मिलते हैं। शेषोक्त शैली में उनकी प्रधानता है, **अपभ्रंश शैली** में वे गौण हैं।

दोनों में विधान और आलेखन के मुख्य अंतर ये हैं—

अपभ्रंश चित्र मुख्यतः ग्रंथ-चित्र हैं और इकहरे कागद पर बने हैं जब कि राजस्थानी चित्र मुख्यतः छिन्न चित्र हैं, अर्थात् वे अलग अलग **वसलियों** (एक संग जमाये हुए कई पर्त कागद) पर बने हैं (§ ४०५)। दूसरा अंतर **एकचश्म** चेहरे का है। **अपभ्रंश शैली** में तीर्थंकरों वा देवी-देवताओं के **सम्मुख** चेहरों को छोड़कर, शेष चेहरे **सवाचश्म** हैं। इधर **राजस्थानी शैली** में **एकचश्म** चेहरों की प्रधानता है। पिछले **अपभ्रंश सवाचश्म** चेहरों में परली आँख के बिलकुल विरूप एवं निरर्थक हो जाने के कारण और परले गाल के प्रायः निःशेष हो जाने के कारण जो कुछ बच रहता है वह **एकचश्म** चेहरा है। यही आरंभिक **राजस्थानी शैली** में ज्यों का त्यों ले लिया गया है।

तीसरा अन्तर रंगों का है। अपभ्रंश शैली की **वर्णिका** मुख्यतः लाल और पीले रंग की (जिसका स्थान पीछे से सोना ले लेता है) है। इसके विपरीत **राजस्थानी शैली** का चित्रकार अनेक चटकीले रंगों का प्रयोग करता है और उनका **वजन** ऐसा रखता है कि, यद्यपि उसके मुख्य रंग भी लाल और पीले ही हैं, वे सब रंग बोला करते हैं एवं आँख लाल, पीले को अनदेखा कर देती है।

इन मुख्य भेदों के सिवा **राजस्थानी** चित्र **अपभ्रंश शैली** की अन्य विशेषताओं—जन्तरी-उरेह (डायग्रेमिक ड्राइंग) भावोंके अभाव, मुखाकृति, आँख, अलंकरण, पेड़-पालों एवं जल के आलंकारिक आलेखन तथा इमारत पर के बेलबूटों—को बहुत दिन तक निभाए चलता है। इस तुलनात्मक अध्ययन का सारांश यही निकलता है कि **राजस्थानी-शैली अपभ्रंश शैली** का एक नवीन उत्थान है। दूसरे शब्दों में, ६वीं-१०वीं शती से जो अवनति होती आ रही थी उसके बदले अब उन्नति का क्रम चल पड़ा।

यह पुनरुत्थान गुजरात और दक्षिणी राजस्थान—मेवाड़—में हुआ जान पड़ता है। आरंभिक **राजस्थानी** चित्रों में अंकित वास्तु १५वीं शती के गुजरात का है। अकबर के समय में गुजरात, अन्य कलाओं के साथ साथ चित्रकला का एक मुख्य केंद्र था। अकबर के मुख्य चित्रकारों में से कम से कम छः गुजराती थे। अब इसके आगे बढ़िये—१५वीं शती का प्रसिद्ध गुजराती सुलतान महमूद बेगड़ा कला का एक प्रमुख समाश्रयदाता था। कश्मीर उसका मित्र-राज्य था और वहाँ उस समय ज़ैनुल्आब्दीन का परम उन्नत और उदार राज्य था जैसा कि इस अध्याय के आरंभ ही में कहा जा चुका है। ऐसी कोई भी कला न थी जिसे उस महामना ने समुन्नत न किया हो। ऊपर (§ २५ ग) हम देख चुके हैं कि वहाँ अपनी चित्र-कला की एक शैली विद्यमान थी। इसमें अजंता की सजीवता पर्याप्त मात्रा में बच रही थी जैसा कि हम आगे देखेंगे। सो उधर कश्मीर में और इधर गुजरात में जब ऐसे बानक बने हुए थे तो वहाँ से चित्रकारों का इधर आना सर्वथा संभव है। कुंभा ने भी अपनी गुण-ग्राहकता के कारण कश्मीरी चित्रकार बुलाये हों तो आश्चर्य नहीं। **अपभ्रंश शैली** से **राजस्थान शैली** की जो विभिन्नताएँ (अर्थात् नूतनताएँ) हैं, उनमें से कई निश्चयपूर्वक **कश्मीर शैली** की हैं।

यहाँ तक हमने देखा कि—(१) **राजस्थानी शैली** का उद्भव **अपभ्रंश शैली** से, (२) गुजरात—एवं मेवाड़—में, (३) **कश्मीर शैली** के प्रभाव द्वारा, (४) १५वीं शती में हुआ। ऐसे कतिपय चित्र प्राप्त हैं जिनमें कहीं पर **मुगल** प्रभाव नहीं पाया जाता अर्थात् वे निश्चय पूर्वक १५वीं शती की परम्परा वाले हैं। भारत-कला-भवन का बंगाल रागिनी वाला चित्र इन्हीं में का है।

इन प्रारंभिक **राजस्थानी** चित्रों में पुरुषों का जो पहनावा, अर्थात् पगड़ी, जामा, पायजामा और पटका, पाया जाता है उसके कारण ये **मुगल कला** से व्युत्पन्न नहीं प्रमाणित किये जा सकते क्योंकि यह परिच्छद मुगल नहीं भारतीय है जिसे अकबर ने कुछ परिवर्तन-पूर्वक ग्रहण किया था[1]।

किंतु **राजस्थानी शैली** के १५वीं शती से आरंभ के लिये हम उक्त चित्रों की ही साक्षी पर अवलंबित हों, सो नहीं। अकबर के लिये १५६० ई० से आरंभ करके १५७५ ई० तक किस्सा अमीर हम्जा की एक विस्तृत चित्रावली तैयार की गई थी (§§ ३५ ख १-२)। इस चित्रावली में कितने ही अंश ऐसे हैं जो असंदिग्ध और निर्विवाद रूप से **राजस्थानी** हैं। इनके संबंध में तर्क की आवश्यकता नहीं। इन्हें देखते ही इनकी शैली के विषय में किसी शंका की गुंजाइश नहीं रह जाती। अतएव इन उदाहरणों के सामने कोई दलील नहीं चल सकती। यदि हम्जा चित्रावली के समय तक **राजस्थानो शैली** का एक निश्चित रूप न हो गया होता तो वह इसमें कहाँ से आती? इस निश्चित रूप के लिये कम से कम पचास वर्ष का समय तो चाहिए।

हम्जा नामों वाले उक्त अंशों के अत्यन्त निकटवर्ती रागमाला के भी कुछ चित्र प्राप्त हैं। इनमें की वास्तु शैली अकबर -वास्तु से कुछ पूर्व की ही है (फलक ८ ग)। ऐसे चित्रों का समय हम्जा चित्रावली से दूर नहीं।

§ ३०. **राजस्थानी शैली का वर्गीकरण तथा समुचित नाम**—डा० कुमारस्वामी ने **राजस्थानी शैली** का वर्गीकरण **पहाड़ी शैली** के साथ **राजपूत शैली** नाम की एक प्रधान शैलो के अंतर्गत किया है; अर्थात् उन्होंने अर्वाचीन काल की भारतीय चित्रकला के मुख्य दो वर्ग रखे हैं—**राजपूत शैली** और **मुगल शैली**। किंतु **राजपूत शैली** मानने की कोई गुंजाइश नहीं है। यद्यपि राजपूत-जाति एक शासक जाति थी, तो भी एक ऐसी जाति का प्रभाव समष्टि रूप से कला पर नहीं पड़ सकता जिसके देश भर में भिन्न-भिन्न केंद्र हों, साथ ही परंपरा एवं राजनीतिक परिस्थिति भी भिन्न भिन्न हों। फिर **राजस्थानी** और **पहाड़ी शैलियों** के कलात्मक निजस्वों, जैसे—विषयों, अभिव्यक्ति, अंकनशैली आदि में इतना अन्तर है कि दोनों एक शीर्षक के अंन्तर्गत नहीं आ सकतीं। पहली मुख्यतः आलंकारिक, दूसरी अभिव्यंजनात्मक (=रसात्मक) कला है। **राजस्थानी** का जन्म १५वीं शती में **अपभ्रंश शैली** से हुआ, जैसा कि हमने अभी देखा है; **पहाड़ी** का जन्म १७वीं शती में हुआ जैसा कि हम आगे देखेंगे (§ ४३)। यह समय और प्रसूति का अंतर भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन अंतरों के होते हुए **राजपूत** नामक एक व्यापक वा प्रधान शैली की

[1]—देखिए—'हिंदुस्तानी', अप्रैल १९३१, पृ० २२७-२३९.

स्थापना नहीं टिक सकती।

राजस्थानी शैली के आरंभिक इतिहास के संबंध में यहाँ अब हम १५वीं शती एवं उसके बादवाले उन व्यक्तियों तथा घटनाओं की ओर प्रवृत्त होंगे जिनका स्थायी और व्यापक प्रभाव आगामी शतियों में, यहाँ की चित्रकला पर ही नहीं, समूची संस्कृति पर पड़ा।

छठाँ अध्याय

§ ३१. **मुगल साम्राज्य का आरंभ**—जिन दिनों इधर **राजस्थानी शैली** (§ २६) का जन्म हो रहा था, उन दिनों—१४८३ ई० की बात है—भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक, अकबर के पितामह बाबर का जन्म हुआ। वह महान् विजेता और संहारक तैमूर की पाँचवी पीढ़ी में था। बाबर की माता वा कोई मातामही चंगेज खान के वंश की, अर्थात् मंगोल थी। इसी से यह वंश मुगल (=मंगोल) कहलाया, अन्यथा यह तूरानी (तुर्क) था। मुगल बादशाहों को जैसे अपनी तैमूरिया (तुर्क) परंपरा का गर्व था, वैसे ही अपनी चंगेजखानी (मंगोल) परंपरा का भी अभिमान था और वे दोनों कुलों की रीति बड़े गौरव से बर्तते थे।

बाबर के शैशव में तैमूर-वंशियों के हाथ में तैमूरिया साम्राज्य के कई छोटे छोटे राज्य भर बच रहे थे। उन्हीं में से आमू-सीर प्रदेश के फरगाना राज्य का शासक उमरशेख बाबर का पिता था। बाबर जब ग्यारह बरस का था तभी एक दुर्घटनावश उमरशेख गत हो गया और उसे राज्यासीन होना पड़ा। तभी से बाबर के जीवन में ज्वार-भाटे आरंभ हुए। अंततः १५१३ वा '१४ ई० में, अपने देश से सदा के लिये विदा होकर वह काबुल आया और तभी से उसकी दृष्टि भारत पर गड़ी। १५१६ ई० में उसने भारत पर आक्रमण किया। इन दिनों यहाँ की आंतरिक दशा बड़ी बुरी हो रही थी, फलतः कई भारी लड़ाइयों के बाद १५२७ ई० में विजय-लक्ष्मी ने भारत का राजमुकुट निश्चित रूप से बाबर को पहना दिया।

§ ३२ मुगलों में संस्कृति और कला-प्रेम—तैमूरिया वंश आरंभ से संस्कारी और गुणियों का आश्रयदाता था। स्वयं तैमूर बहुत बड़ा संहारक होते हुए भी, कलाकारों का रक्षक था। किसी नगर को जीतकर भलेही उसकी सारी जनता को खपा डाले किन्तु कारीगरों को अपनी राजधानी भेज देता था (§ ३३ ख)। तैमूर का पुत्र शाहरुख कवि था और उसके दरबार में चित्रकार भी थे, जिनमें से एक शाहरुख के राजदूतों के संग चीन तक गया था। १५ वीं शती के अंत में इस वंश के सुलतान हुसैन मिर्जा ने अपने समय के अच्छे से अच्छे चित्रकारों को अपने यहाँ रखा था, जिनमें बिहजाद भी था जो ईरानी शैली का सर्वप्रसिद्ध चित्रकार है। इसी भाँति एक अन्य तैमूरिया, बैसुंगर मिर्जा के दरबार में इसी १५वीं शती में मीरअली रहता था जो फारसी लिपि के नस्तालीक नामक भेद का सर्वश्रेष्ठ लिपिकर था।

बाबर में भी यह कुलगत कला-प्रवृत्ति पूर्ण रूप से विद्यमान थी। कवि होने के सिवा वह ऐसा प्रौढ़ गद्य-लेखक था कि उसका आत्मचरित, जो तुर्की भाषा में है, विश्व-साहित्य की चीज है। इस रामकहानी में उसने घटनाओं के बहुत विशद और सजीव वर्णन तो किए ही हैं, मनुष्यों के नख-शिख एवं प्रकृति तथा स्थावर-जंगम जगत् के ऐसे सच्चे और सजीव शब्द-चित्र भी खींचे हैं कि मानना पड़ता है कि वह पहुँचा हुआ मुसव्विर था, भले ही उसने रंग और तूलिका का प्रयोग कभी न किया हो। बिहजाद के चित्रों की उसने मार्मिक समीक्षा की है अर्थात् वह कृती ही नहीं, कला का आलोचक भी था।

हुमायूँ (१५३०'-५६ ई०) ने भी यह पारंपरीण दाय पाया था। यह कहना कि उसका कला-प्रेम, विपत्ति के दिनों में उसके ईरान-प्रवास का फल था जहाँ शाहतहमास्प ने उसे इस ओर प्रवृत्त किया था, गलत है। ईरान में तो उसे निरादर के सिवा कुछ और, बहुत थोड़ा ही नसीब हुआ था। आरंभ ही से वह अपनी कल्पना द्वारा अनेक कलात्मक चीजें बनवाता था जिनमें चित्रकारी को भी स्थान मिलता था। उसका चित्र-प्रेम इसी से समझा जा सकता है कि

अपनी युद्ध-यात्राओं तक में वह अपने संग सचित्र पुस्तकें रखता था एवं जब वह शेरशाह से हारकर मारवाड़ और सिंध के दुस्तर मार्ग से ईरान की ओर जा रहा था तो उसके गाढ़े के साथियों में चित्रकार भी थे। इसी यात्रा में एक दिन वह अपने डेरे में नहाने का कपड़ा पहने बैठा था। कहीं से उड़ता हुआ एक पखेरू वहाँ आ गया। बादशाह ने उसे पकड़ कर कतरनी से उसके पर काटे और अपने चित्रकार से उसकी तसवीर बनवाकर छोड़ दिया।

हुमायूँ ने अपनी विपत्ति का प्रायः एक बरस ईरान में बिताया। १५४४ ई० के अंत में जब वह वहाँ से काबुल लौट रहा था, तो रास्ते में, तब्रेज में, शीराज-निवासी ख्वाजा अब्दुस्समद नामक कुशल चित्रकार और लिपिकर, जिसकी उपाधि शेषोक्त कला के कारण शीरींक़लम थी, उससे मिला। चित्रकला-प्रेमी बादशाह ने ख्वाजा को अपने साथ चलने के लिये कहा किंतु वह न चल सका। मगर १५४७ ई० में, जब बादशाह काबुल में पैर जमा चुका तो उक्त ख्वाजा तथा मीर मंसूर नामक चित्रकार का पुत्र मीर सैयद अली नामक जो 'जुदाई' उपनाम से कविता भी करता था, उसकी सेवा में आ गया।

किंतु हुमायूँ के समय तक मुगल दरबार की कोई अपनी चित्रकला न थी। उसमें **ईरानी शैली** (§ ३३ ख) के अंतर्गत **हिरात की कलम** को ही आश्रय मिला था। अकबर के समय से इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। उस परिवर्तन पर विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि उस समय तक की ईरान तथा अन्य मुसलिम देशों की चित्रकारी के इतिहास और विशेषताओं का सिंहावलोकन कर लिया जाय क्योंकि तभी अकबर के आश्रय में जिस चित्र-कला का विकास हुआ उसका ठीक ठीक विवेचन किया जा सकता है।

§ ३३. मुसलिम देशों की १६वीं शती के आरंभ तक की चित्रकला—

क—**इराक**—हजरत मूसा के उपदेशों का अनुसरण करते हुए हजरत मुहम्मद ने, निष्प्राण वस्तुओं—वृक्ष, फूल और मकानों के चित्र छोड़कर, अन्य चित्रों का आलेखन निषिद्ध ठहराया। किंतु ८वीं शती का अंत होते होते खलीफाओं में यह निषेध टूटने लगा। उन दिनों वाले बगदाद के खलीफा विशाल प्रासाद बनवाने लगे जिनमें मनुष्यों और प्राणियों की आकृतियाँ बनी मिलती हैं। ११वीं शती से जनता भी प्राणियों के चित्र बनाने लगी।

इस बीच अरबी में धार्मिक साहित्य के सिवा ऐसा साहित्य भी तैयार हो चला था जिसके प्रति पक्के मुसलिम उपेक्षा वा कम से कम उदासीनता रखते थे। ऐसी पुस्तकों में विज्ञान, गणित, खगोल, चिकित्सा आदि के साथ सर्वोपरि अपने पंचतंत्र का अनुवाद भी है। इस

पुस्तक के एशिया एवं योरप के अधिकांश में फैलने की कथा इसकी कहानियों से कम रोचक नहीं। पहले पहल, ६ठीं शती में इरान के सम्राट् खुसरो अनुशीरवाँ के राज्यकाल में पंचतंत्र संस्कृत से पह्लवी (उस समय की ईरानी) में अनूदित हुआ; ८वीं शती के उत्तरार्ध में इस पह्लवी का अरबी अनुवाद हुआ। संभवतः पहले ऐसी ही लोकप्रिय पुस्तकों का चित्रण आरंभ हुआ। इनमें से वैज्ञानिक पुस्तकों का चित्रण अध्येताओं के सुविधार्थ किया जाता था। चित्रकला का निदर्शन कथा-वाङ्मय के चित्रों में ही होता था।

११वीं से १३वीं शती तक के अरबी ग्रंथों वाले चित्र शाम और मेसोपटामिया शैली के हैं जो ईसाई धर्म से संबंधित थी और इसलाम के जन्म के बहुत पहले से चली आती थी। यह शैली निर्विवाद रूप से अपर-भारत की चित्रकला (§ २६ ख) से उत्पन्न थी। जो विद्वान् इस हद तक जाने को तैयार नहीं वे भी इतना तो मानते ही हैं कि, उससे पूर्णतः प्रभावित थी। यह सिद्ध हो चुका है कि देवी मरियम और शिशु ईशा का चित्र बौद्ध हारीती के चित्र से उत्पन्न हुआ है। इस्लाम के उदय से पूर्व बौद्ध संप्रदाय एशिया का मुख्य धर्म था, जिसका विस्तार जापान से लघु एशिया तक था। जरथुस्त्र संप्रदाय को एक कोने में दबाकर, वह ईरान के भी बहुत बड़े अंश में फैला हुआ था। अस्तु, उक्त भारतीय प्रभाव हम इन खलीफा-कालीन बगदाद क्षेत्र के चित्रों पर भी पाते हैं। यों तो प्रायः इन सभी चित्रों में यह प्रभाव विद्यमान है किंतु कुछ उदाहरण तो ऐसे हैं जिनके संबंध में कोई ननु-नच चल ही नहीं सकता। एकाध में की आकृतियाँ तो मुद्रा और आसन में बुद्ध के बहुत समीप हैं। इस काल के काहरावाले चित्र भी ऐसे ही हैं।

ख—**ईरान**—इस्लामी प्रचार के पीछे पीछे उक्त शैली ईरान में भी पहुँची। किंतु थोड़े ही दिनों बाद वहाँ मंगोल प्रभाव की लहर आई और ईरानी चित्रकला में चीनीपन व्याप उठा। इस चीनीपन में भी भारतीय प्रभाव था जो बौद्ध मत के कारण चीन पहुँचा था (§ § २२, २६ क)। किंतु यह प्रभाव स्वल्प था। हाँ, महमूद गजनवी के आदेश से जो काम बने वा जिन पर उसकी दरबारी संस्कृति का प्रभाव है उनमें भारतीय **अपभ्रंश शैली** का प्रभाव कुछ विशेष रूप से पाया जाता है, क्योंकि उस सम्राट् के समाज में भारतीय कलाकार भी थे।

ईरान में उक्त मंगोल प्रभाव चल ही रहा था कि १३वीं शती के उत्तरार्ध में मध्य एशिया में तैमूर का उदय हुआ (§ ३२)। बहुत बड़ा संहारक होते हुए भी वह ऐसा कला-प्रेमी था कि जहाँ पर कत्लआम कराता था वहाँ के भी चुने हुए कारीगरों को अपनी राजधानी समरकंद में भेज देता था। १४०५ ई० में तैमूर की मृत्यु हुई। उसके पुत्र शाहरुख ने अपने साम्राज्य के सबसे भीतरी अंश एवं ईरान के पूरबी भागवाले हिरात नगर को राजधानी

बनाया। उसकी कलाप्रियता के कारण इसी हिरात में ईरानी चित्रकला की एक नई शैली का जन्म हुआ जिसे आजकल **हिरात शैली** कहते हैं और पुराने लोग **हिरात कलम**। भौमिक स्थिति एवं आश्रयदाता के अभिजन के कारण स्वभावतः इस शैली पर अपर-भारत की चित्रकला (§ २५ ख) का काफी प्रभाव था। इस शैली में ईरानी कला का जितना उत्कर्ष हुआ उतना तब तक की किसी शैली में नहीं हुआ था।

१५वीं शती के उत्तरार्ध में उस्ताद बिहजाद इसी शैली का सबसे बड़ा चित्रकार हुआ। वह हिरात में ही तैमूर के वंशज हुसैन मिर्जा के दरबार में था (§ ३२)। १६वीं शती के आरंभ में इस समाश्रयदाता का अंत हो जाने पर ईरान के सफवी वंश का पहला सम्राट् शाह इस्माईल बिहजाद को तब्रेज़ ले गया। इस प्रकार बिहजाद शैली का प्रचार ठेठ ईरान में भी हुआ—और ऐसा हुआ कि उसके पहले जितने बड़े-बड़े चित्रकार हुए थे, लोग उनका नाम तक भूल गये एवं बिहजाद एक स्वर से **ईरानी शैली** का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार माना गया तथा आज तक माना जा रहा है। बिहजाद की इस श्रेष्ठता का मुख्य कारण रंगों और **लिखाई** की उत्तमता के साथ-साथ यह भी है कि उसने ईरानी कला में जो भी विजातीय प्रभाव थे, उन सब का बड़ा सुंदर समन्वय करके उसे एक रूप कर दिया।

ग—**भारत**—भारत की मुसलिम-विजय के मुख्य उद्देश्यों में धर्म-प्रचार भी था। अतएव यहाँ के मुसलिम-शासन धार्मिक नियमों के अधिक पाबन्द रहे। फलतः मुगलों से पहले के प्रमाणिक मुसलिम-चित्र नहीं मिलते। मुहम्मद तुगलक (१३२५-'५१ ई०) का एक तथाकथित चित्र कलकत्ता संग्रहालय में है, किंतु यह १८वीं शती की **दकनी शैली** वाले शाहनामे की किसी प्रति का पन्ना है। इसे किसी आधुनिक जालिए ने **वसली** पर जमाकर फीकी स्याही से मुहम्मद तुगलक का नाम लिख दिया है, जिससे "हैवेल तथा कुमारस्वामी तक धोखा खा गए। अब "स्टेला क्रेमरिश ने अपनी पुस्तक "ए सर्वे ऑव पेंटिंग इन द डेकेन"[1], में निश्चित रूप से प्रमाणित कर दिया है कि यह चित्र **दकनी शैली** का है और १८वीं शती से पहले का नहीं हो सकता।

मुहम्मद तुगलक के उत्तराधिकारी फिरोज तुगलक (१३५१;—'८८ ई०) ने अपनी आत्मकथा लिखी है। उसमे पता चलता है कि चित्र-प्रेमी होते हुए भी उसने प्रासादों में, जो प्राणियों के चित्र थे उन्हें धार्मिक कर्त्तव्यवश पुतवा दिया था और बगीचों के दृश्य अंकित कराए थे। इस एक घटना में उन दिनों के मुसलिम शासकों की सारी भावना निहित है।

इस धार्मिक पाबंदी का एकमात्र अपवाद सुलतान इल्तुतमिश (१२११–'३६ई०)

---

९ १-पृ० १२७ तथा टि० १०१

छठाँ अध्याय

का चाँदी का टंक (सिक्का) है जिसे उसने बंगाल-विजय के उपलक्ष्य में चलाया था। इस पर घोड़ा उड़ाते हुए उसकी बड़ी ही जानदार तसवीर बनी है।

मुसलिम-शासकों के उक्त दृष्टिकोण में परिवर्तन मुगलों के साथ हुआ, जिनका कुलगत कला-प्रेम मध्य-एशिया में मूल निवास के कारण था, जहाँ चीन के पड़ोस और बौद्ध प्रभाव के कारण कला पूर्णतः व्याप्त थी।

§ ३४. **ईरानी चित्रकला की विशेषताएँ**—कई बार और कई ओर से भारतीय प्रभाव पड़ने पर भी ईरानी कला का एक स्वतंत्र और भिन्न निजस्व है जो मुख्यतः चीन से संबंधित है। उसकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

रेखाओं में गति होते हुए भी भारतीय गोलाई नहीं है; कोण हैं। इसी प्रकार उसमें **डौल** भी नहीं है; चित्रकार, जहाँ जो जो रंग अपेक्षित हैं उन्हें लगा तो जाता है, किंतु उनमें **साया** और **उँजाला** (उज्जोतन) लगाकर—अंकित वस्तुओं की निचाई-उँचाई नहीं दिखाता। परिणाम यह होता है कि रंगीन चित्र भी रंग भरा हुआ सपाट रेखा-चित्र मात्र रह जाता है। ईरानी चित्र का अन्य निजस्व आलंकारिकता है, उसके सभी आलेखन आलंकारिक होते हैं। अभिव्यक्ति की अपेक्षाकृत बहुत कमी रहती है। चित्रकार आलेख्य मात्र को नकाशी मानता है और नदी, पर्वत, वृक्ष से लेकर पशु, पक्षी एवं मनुष्य तक का आलंकारिक अंकन करता है; नकाशी के रूप में बनाता है। उसकी **लिखी** स्त्री ललित लतिका और पुरुष सरो का वृक्ष है। इस आलंकारिकता के तीन कारण हो सकते हैं—**(१)** ईरानियों का उद्यान-प्रेम, **(२)** इस्लाम के प्रभाव से आलंकारिक कला की प्रमुखता, एवं (३) ऐसे ही चित्रों का बुनावट, सुईकारी और इमारती तथा लकड़ी की रँगाई आदि कौशलों में, जिनकी विशेषता तरहदारी ही है, प्रयुक्त होना। ईरानी कला की और विशेषता में सुबुकपन, नाजुकपन तथा विरलता है। फलतः उसमें प्रकांडता, उदात्तता और घनता (भीड़भाड़) का अभाव रहता है और इन्हीं सब विशेषताओं का परिणाम यह होता है कि जब ईरानी चित्रकार किसी घटना वा कथानक को अंकित करता है तो उसका यह उद्देश्य गौण हो जाता है और दर्शक के सामने उसका **संयोजन** नकाशी की एक **तरह** के रूप में उपस्थित होता है, जिसमें गति होने पर भी जीवन का अभाव रहता है।

§ ३५. **अकबर और उसकी समाश्रित आरंभिक मुगल शैली**—काबुल में राज्य जमाकर, १५५५ ई० में किस प्रकार हुमायूँ ने पुनः भारतवर्ष को हस्तगत किया और छः महीने राज्य करके चल बसा तथा उसका तेरह बरस का बेटा अकबर गद्दी पर बैठा

(१५५६ ई०), यह सब कथा यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। राजनीतिक इतिहास द्वारा वह प्रायः सबको विदित है।

अकबर एक 'विभूतिमत्सत्त्व' था। उसमें जिस महापुरुषता का उत्तरोत्तर विकास हुआ उसका मूल मंत्र 'सुल्ह कुल' अर्थात् 'सबसे मेल' था; दूसरे शब्दों में उसका प्रत्येक कार्य समन्वय-बुद्धि की प्रेरणा से संपादित होता था। फलतः उसमें भारतवर्ष की संस्कृति के साथ ईरान-मध्य एशिया की संस्कृति को मिला देने की लोकोत्तर प्रतिभा और क्षमता थी। इस मेलन में भारतीय संस्कृति की ही प्रमुखता रहती थी क्योंकि, सूक्ष्मदर्शी अकबर को भारतीय संस्कृति ने अपना अनुगत बना लिया था। सो उसने यहाँ की संस्कृति को देशकाल के अनुकूल बनाने के लिये ही उसमें अपेक्षित परिवर्तन और मेलन भर किये थे। सीकरी का स्थापत्य, तानसेन का संगीत, दीनइलाही, अकबर का पहनावा, उसका सामाजिक जीवन, आचार-विचार, रहन-सहन, सारांश यह कि उसकी विचार और कार्य-पद्धति मात्र उसकी उक्त मनोवृत्ति की मूर्त उदाहरण है। इसी प्रकार उसकी आश्रित चित्रकला भी उसकी मनोवृत्ति की प्रतीक है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

अकबर ने किशोरावस्था में चित्रकारी का अभ्यास भी किया था। इस संबंध में जहाँगीर ने अपने आत्मचरित में एक मनोरंजक घटना लिखी है—अकबर के सिंहासनासीन होने पर जब हेमूँ ने विद्रोह किया और अन्ततः पकड़ा गया तो खानखाना के पिता बैरमखाँ ने, जो अकबर का अभिभावक था, प्रार्थना की कि हजरत इस काफिर को मारकर गिजा (धर्मयुद्ध) के पुण्यभागी हों। × × आपने फरमाया कि मैं तो इसे पहले ही टुकड़े-टुकड़े कर चुका। काबुल में जब मैं ख्वाजा अब्दुस्समद शीरींकलम से चित्रकारी सीखता था तो एक दिन मेरी **कलम** से एक ऐसी तसवीर निकली जिसके अंग प्रत्यंग छिन्न-भिन्न थे। एक पार्श्ववर्ती ने पूछा कि यह किसकी सूरत है तो मेरे मुँह से निकल पड़ा—हेमूँ की।

सम्राट् होने के कुछ समय बाद ही, प्रायः १५६० ई० से उसने चित्रकला के प्रति अपने रक्तगत प्रेम से प्रेरित होकर चित्र बनवाना आरंभ कर दिया जिसका क्रम उसके जीवन भर चालू रहा। इस संबंध में अपनी ओर से कुछ न कहकर, अबुल्फज्ल ने आईन-अकबरी में जो कुछ कहा है उसका सारांश देना हम अधिक उपयुक्त समझते हैं क्योंकि प्रामाणिकता के सिवा उससे कई प्रश्नों पर प्रकाश भी पड़ेगा।

क—**आईन में उल्लेख**—आईन के आरंभिक अध्यायों में से एक सुलिपि पर है। उसी के अंतर्गत चित्रकला का विषय भी है, जिसका सारांश इस प्रकार है—

किशोरावस्था से ही श्रीमान् की अभिरुचि चित्रकला की ओर रही है और वे सब तरह से उसे प्रोत्साहित करते हैं। चित्रकला को वे अध्ययन एवं

मनोरंजन का हेतु मानते हैं। उनके इस पृष्ठपोषण से यह कला उन्नत हो रही है और अनेक चित्रकारों ने प्रसिद्धि प्राप्त की है। चित्रशाला के दरोगे प्रति सप्ताह समस्त चित्रकारों के काम श्रीमान् के सम्मुख उपस्थित करते हैं जो काम की उत्तमता के अनुसार कारीगरों को इनाम देते हैं वा उनका वेतन बढ़ाते हैं। चित्रकारी की सामग्री में बहुत कुछ उन्नति हुई है एवं रंग बनाने का तरीका विशेष उन्नत हुआ है जिसके कारण अब चित्रों की अभूतपूर्व तैयारी होने लगी है। अब ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट चित्रकार तैयार हो गये हैं कि इनके चित्र विहज़ाद और यूरप के चित्रकारों से टक्कर लेते हैं। इन उत्तम चित्रकारों की संख्या सौ से ऊपर है और जो कारीगरी में पूरे वा मध्यम श्रेणी के हैं उनकी संख्या तो बहुत बड़ी है।

कलम की बारीकी, तैयारी, पोढ़ापन आदि जो अब के चित्रों में पाया जाता है वह अप्रतिम है, यहाँ तक कि निष्प्राण वस्तुओं में भी जीवन जान पड़ता है।

हिंदू चित्रकारों के चित्र हम लोगों (मुस्लिमों) की भावना से कहीं ऊँचे होते हैं। सारे संसार में ऐसे बहुत कम कलाकार हैं जो उनके समकक्ष हों।

प्रमुख चित्रकारों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

१—तब्रेज़-निवासी मीर सैयदअली।

२—शीराज़-निवासी ख्वाजा अब्दुस्समद। यद्यपि ये चित्रकारी तो पहले ही से जानते थे किंतु जब से इन पर श्रीमान् की कृपादृष्टि हुई है, यह कला की वाह्य आकृति के बदले उसकी अन्तरात्मा की ओर प्रवृत्त हुए हैं। ख्वाजा के शिष्य भी उस्ताद हो गये हैं।

३—दसवन्त (संभवतः जसवन्त)—यह जाति के कहार थे और इन्होंने अपना सारा जीवन चित्रकारी की उपासना में लगा दिया। पहले कला के प्रेम-वश दीवारों तक पर **लिखाई** करते थे। एक दिन श्रीमान् की दृष्टि इन पर पड़ी और इनकी योग्यता को देखकर श्रीमान् ने इन्हें ख्वाजा के सपुर्द किया। शीघ्र ही ये अन्य सब चित्रकारों के आगे निकल गये और इस समय के सर्वश्रेष्ठ उस्ताद हुए किंतु दुर्भाग्यवश इन्हें उन्माद रोग हो गया जिसके प्रकोप में इन्होंने आत्मघात कर लिया[१]। इनकी अंकित कतिपय कृतियाँ हैं।

४—बसावन—**पृष्ठिका** बनाने, आकृति के आलेखन, बँटे हुए रंग

१—यह दुर्घटना १५८४ ई० की है।

लगाने, **शबीह लगाने**[२] तथा चित्रकारी के और कई अंगों में यह सर्वोत्तम है; यहाँ तक कि कई आलोचक इन्हें दसवंत से भी अच्छा समझते हैं।

निम्नलिखित चित्रकारों ने भी प्रसिद्धि प्राप्त की है—

१—केशो, २—लाल, ३—मुकुद, ४—मिस्कीन, ५—फर्रुखकुलमाक, ६—माधो, ७—जगन, ८—महेश, ९—खेमकरन, १०—तारा, ११—साँवला, १२—हरबंस तथा १३—राम।

धर्म (मुस्लिमधर्म) के कट्टर अनुयायी, जो धर्मग्रंथ (कुरान) के शब्दों पर ही ध्यान देते हैं, इस कला के विरुद्ध हैं किंतु अब उनकी आँखें भी खुलने लगी हैं। एक दिन श्रीमान् ने, जब वे अंतरंग मित्रों के साथ बैठे थे, कहा कि 'ऐसे कितने ही व्यक्ति हैं जो चित्रकला से नफरत करते हैं किंतु ऐसे लोगों को मैं पसंद नहीं करता। मुझे तो ऐसा लगता है कि ईश्वर को पहचानने के लिए चित्रकार का एक अनोखा मार्ग है; जब वह किसी सजीव वस्तु की आकृति बनाता है और एक के बाद एक अंग-प्रत्यंग **लिखता** जाता है। किंतु अंततः उनमें जान नहीं डाल सकता तो हठात् उसका ध्यान ईश्वर की ओर जाता है जो जीवन का एक मात्र दाता है और इस प्रकार उसके ज्ञान की वृद्धि होती है'।

चित्रकारी को प्रोत्साहन मिलने के कारण अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ तैयार हुईं। फारसी की गद्य और पद्य रचनाएँ चित्रित की गईं। इस प्रकार चित्रों की संख्या बहुत बढ़ गई। हम्जा के किस्से के चित्र बारह जिल्दों में तैयार हुए। चतुर चितेरों ने उनमें के चौदह सौ प्रसंगों के अद्भुत चित्र तैयार किये। चंगेजनामा, जफरनामा, यह किताब (आईनअकबरी), रज्मनामा (महाभारत), रामायण, नल-दमन (नल दमयंती), कलीला-दमना (पंचतंत्र), अयार दानिश (पंचतंत्र का दूसरा अनुवाद) इत्यादि भी चित्रित किए गए।

श्रीमान् ने स्वयं अपनी **शबीह** लगवाई और आज्ञा दी कि साम्राज्य के सब उमराओं की **शबनीह** तैयार की जाय। इस प्रकार एक विशाल चित्राधार प्रस्तुत हुआ।

---

२ - **शबीह** के संग की 'लगाना' क्रिया, जो आज भी चित्रकारी की भाषा में चलती है, विद्ध चित्र की (§ २४ क) तदर्थीय, फलतः प्राचीन परंपरा की विद्यमानता-सूचक है। ऐसे और शब्द भी हैं, जैसे - **खुलाई** = उन्मीलन। —उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम् कुमार-संभव; बरद मुतान, बैल मूतना=गो मूत्रिका इत्यादि।

अबुलफज्ल के इस विवरण में अकबर-कालीन **मुगल शैली** का प्रायः समूचा इतिहास निहित है। अब हमें केवल उन प्रश्नों पर विचार करना रह जाता है जिनका स्पष्टीकरण उक्त विवरण में नहीं हुआ है। इनमें पहला, इस शैली के उद्गम का है, क्योंकि यह ईरानी कला के भीतर नहीं आती।

ख—अकबर शैली का उद्गम—विषयों के अनुसार इस शैली के चित्र चार विभागों में विभक्त होते हैं—(१) अभारतीय कथाओं के चित्र, जैसे—किस्सा, अमीर हम्ज़ा, शाहनामा आदि (२) भारतीय कथाओं के चित्र, जैसे—रामायण, महाभारत, नलदमयन्ती आदि (३) ऐतिहासिक चित्र, जैसे—तवारीखे-खानदाने तैमूरिया (नीचे ख ३ ख ४), अकबरनामा (नीचे ख ३) आदि तथा (४) व्यक्ति-चित्र। इन चारों विभागों के चित्रों की शैली में एक तो व्यापक समानता है दूसरे इनमें **हिरात शैली** की कुछ विशेषता होते हुए भी इतना निजस्व है कि, जिसे चित्रों की जरा भी निगाह है वह तुरत कह देगा कि **हिरात शैली** से इनका दूर का संबंध है। यह निजस्व स्वभू नहीं बल्कि भारतीय **कश्मीर शैली** का है जैसा कि हम अभी देखेंगे।

ख—१—**हम्ज़ा चित्रावली और उसका निर्माण काल (१५६०-६१—१५७५ ई०)**—अकबर के तैयार कराए चित्रों में समयानुक्रम से सर्वप्रथम किस्सा अमीर हम्ज़ा के चित्र हैं; अतः उक्त विमर्ष के लिए उन्हीं का विश्लेषण उचित होगा, क्योंकि इस शैली की आद्यावस्था में निर्मित होने के कारण उनमें इसके मूलतत्त्व तथा 'विजातीय द्रव्य' पृथक्-पृथक् दीख पड़ते हैं। आगे तो वे मिल जुलकर एक हो जाते हैं।

परंतु पहले हम्ज़ा चित्रावली का समय निर्णय कर लेना चाहिए, क्योंकि भारतीय चित्रकारी के अधिकांश ऐतिहासिकों ने एकस्वर से इसका आरंभ हुमायूँ के पिछले दिनों में माना है, किन्तु वास्तविकता कुछ और है। इस चित्रावली के विषय में अभी तक चार पुराने उल्लेख मिले हैं—

> १—१८ वीं शती के मआसिरुल्—उम्रा में; जिसका सारांश इस प्रकार है—अकबर किस्सा अमीर हम्ज़ा का बड़ा रसिक था। यहाँ तक कि वह इसके दास्तानों को, कहानी कहनेवालों कीभाँति, महलों में सुनाया करता। उसने इसकी आश्चर्य घटनाओं को चित्रित भी करया था। पचास चित्रकारों ने पहले तो मीर सैयदअली 'जुदाई' के, फिर ख्वाजा अब्दुस्समद के निरीक्षण में यह कार्य किया था।
>
> २—प्रायः ये ही बातें १६वीं शती के अंत वाले सुप्रसिद्ध फरिश्ता में हैं। अर्थात् मआसिरुल् उम्रा का स्रोत संभवतः फरिश्ता है। अतः उन्हें दुहराना अनावश्यक है।
>
> ३—आईन अकबरी में, जिसका अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है।

इन तीन उल्लेखों के सिवा अब एक और उल्लेख मिला है। अकबर के दरबार में अब्दुलकादिर बदायूनी (बदायूँ-निवासी) नामक फारसी अरबी आदि का बड़ा पंडित

था। वह संस्कृतज्ञ भी था, अतः बादशाह ने जो भी संस्कृत के अनुवाद कराए, या तो उसने किए या उनमें उसका हाथ रहा। उसने एक इतिहास भी लिखा जिसमें विशेषतः उसके अकबर-संबंधी संस्मरण हैं। उसकी इस अंशवाली बातें निजी जानकारी की होने के सिवा बड़ी सच्ची और खरी हैं; इसी में—

४—बदायूनी लिखता है कि इस वर्ष (९९० हि०=१५८२ ई०) की घटनाओं में से एक यह भी है कि अकबर ने भारतवर्ष की प्रधान पुस्तक महाभारत के अनुवाद की आज्ञा दी। इसका कारण यह था कि बादशाह ने शाहनामा तथा किस्सा अमीर हम्जा को सत्रह जिल्दों में, पंद्रह वर्ष के समय में लिखवाया था और उनके चित्रों में बड़ा रुपया लगा था। विचार यह हुआ कि ये सब कवियों की उपज हैं। पर भारतीय पुस्तकें सत्य हैं—फिर क्यों न हम फारसी में इनका अनुवाद करावें ? (सारांश)।

इन उल्लेखों से यह तो साफ हो ही जाता है कि हम्जा चित्रावली, हुमायूँ ने नहीं, अकबर ने अपने लिये, अपने राज्य-काल में तैयार कराई थी। साथ ही बदायूनी के उल्लेख से इस कृति के काल-निर्णय पर भी विशेष प्रकाश पड़ता है। एक तो वह पंद्रह वर्ष का समय देता है। दूसरे इंगित करता है कि महाभारत के अनुवादारंभ से कुछ ही वर्ष पहले यह तैयार हुई थी। इसी प्रसंग में वह यह भी बताता है कि हम्जा चित्रावली के तैयार हो जाने के बाद अकबर ने दो और कहानियों को सुना और लिखवाया था।

अबुल्फज्ल के संसर्ग से १५७५ ई० के बाद अकबर के विचारों में विशेष क्रांति और गंभीरता प्रारंभ हो गई थी। अब जो ग्रंथ तैयार कराए गए उनका एक दूसरा क्षेत्र था, जैसा कि हम अभी बदायूनी से सुन चुके हैं। अतएव हम्जा चित्रावली की पूर्ति का समय १५७५ ई० के पहले रखना चाहिए, क्योंकि यदि वह इस नए युग के बाद पूरी हुई होती तो उसके बाद अकबर का ध्यान उक्त दो और कहानियों के सुनने तथा लिखाने की ओर न गया होता। फलतः हम इस चित्रावली की पूर्ति का समय १५७४—७५ ई० रखते हैं, जो उसके आरंभ काल के विषय में बड़ा अनुकूल परिणाम देता है, अतएव स्वीकार्य है। १५७५ ई० के प्रारंभिक महीनों से पीछे मुड़ने पर १५६०-६१ ई० तक पंद्रह चांद्र वर्ष (जिसके अनुसार बदायूनी की गिनती है) बड़ी कुशादगी से पूरे हो जाते हैं। ये वे वर्ष हैं जब अकबर अपनी धाय माहमअंगा और माता हमीदाबानू बेगम मरियम जमानी से प्रभावित होकर बैरमखाँ का बंधन तोड़ डालता है तथा अगले चार-पाँच वर्ष उन्हीं महिलाओं के हाथों में रहता है; अर्थात् १५६० ई० में, छुटकारे की साँस लेता हुआ छुटपन के उस वातावरण में पुनः पहुँच जाता है, जिसमें वह अपनी प्रिय हम्जा-कहानी सुनकर बड़ा हुआ था। अतः १५६०-६१ ई०

सबसे अनुकूल समय है जब अकबर को हम्ज़ा चित्रावली बनवाने का उद्दीपन हुआ हो।

हम्ज़ा चित्रपटों में पहनावा—कवचधारी व्यक्तियों को छोड़कर शेष पुरुषों का पहनावा पारंपरीण भारतीय है, अर्थात् जामा जिसके दामन के चारों कोने त्रिकोणाकार में नीचे लटके होते हैं, और पाजामा। उक्त त्रिकोण दामन कम से कम गुप्तकाल से चला आता था, जिसे अकबर ने सीधा कर दिया था (§ २९ क, नोट—१)। स्त्री-परिच्छद त्रिकोण दामनवाली लंबी कुरती तथा ओढ़नी पाजामा है। मूर्तियों से, कश्मीर में इस पोशाक का पता ई० ३सरी शती से लगता है।

ख—२—**इस चित्रावली का निजस्व—हिरात शैली** की कुछ बातों को छोड़कर, इन चित्रों की अधिकांश बातों में अपना निजस्व है। यथा—

(१) ये आलंकारिक चित्र न होकर घटना-चित्र हैं; (२) इनमें विरलता नहीं भीड़ भाड़ है, एवं प्रकांडता तथा उदात्तता है; (३) इनमें **संयोजन** का एक अपना प्रकार है; (४) इनमें की रेखाओं में गुलाई है और **लिखाई** में डौल; (५) इनमें **एकचश्म** चेहरों की अधिकता है जिनकी आँखें **पटोलाक्ष** (§ २५ ख) वा **मीनाक्ष** हैं (§ ३८ क) तथा मानव आकृतियों का आलेखन स्फूर्तिमय है, उनके पहनावे एवं भूषा हिरात से भिन्न हैं; (६) इसके जल, स्थल,पहाड़, पेड़-पालो, बादल, पशु-पक्षी तथा दानवों का आलेखन अलग है, एवं वृक्षों में केले, वट, पीपल तथा आम और पशु-पक्षी में हाथी, मोर आदि भी हैं; (७) इनमें हाथ-पाँव की मुद्राएँ पाई जाती हैं तथा वस्त्रों में विशेष प्रकार की शिकन और फहरान; (८) उनमें के हाथियों में वह सारी परंपरा मौजूद है जो मोहन जोदड़ो काल से चली आती है (§ ४० ख), अथच (९) हम्ज़ा चित्रों का वास्तु सर्वथा भारतीय है।

ये निजस्व ऐसे हैं जिनकी परंपरा भारतीय चित्रकला ही में पाई जा सकती है। किंतु इस मालिका के एक चित्र का एक अंश इन सब निजस्वों से कहीं बढ़कर है। इसमें कुछ देवताओं की छवियाँ अंकित हैं। वे **पाल शैली** की अति निकट परंपरा में हैं। ऐसी परंपरा **कश्मीर शैली** के अतिरिक्त कहाँ बची थी?

विधान की दृष्टि से भी ये चित्र भारतीय हैं, क्योंकि एक तो परिमाण में ये सवा दो फुट से अधिक लंबे और प्रायः दो फुट चौड़े हैं, दूसरे ये सूती कपड़े पर बने हैं, अर्थात् ये पूर्णरूप से **चित्रपट** हैं। ईरानी चित्र न तो इतने बड़े होते थे न सूती कपड़े पर बनते।

निजस्व के इस विश्लेषण से यह परिणाम निकलता है कि यद्यपि इन **चित्रपटों** में

ईरानी शैली की **हिरात-शाखा** का एक खास अंश विद्यमान है फिर भी इसका मुख्यांश भारतीय है जो मुख्यतः **कश्मीर** और अल्पतः **राजस्थानी शैली** का है। ऊपर हमने जितनी विशेषताएँ गिनाई हैं प्रायः वे सभी कश्मीर शैली की हैं और समस्त चित्रों में सर्वत्र पाई जाती हैं। **राजस्थानी शैली** की विशेषताएँ अधिकतर चित्रभर में व्याप्त नहीं उसके भाग विशेष में, इकठौर पाई जाती हैं, सो भी किसी किसी चित्र में (§ २९ का अंतिम पैरा)। दूसरे शब्दों में यह अकबर-कालीन **मुगल शैली** आरंभ से ही अनेक अंशों में **कश्मीर शैली** का रूपांतर है जैसा कि हम ऊपर (§ २६ ग) कह चुके हैं।

'आईन' से भी हमारा समर्थन होता है। अबुल्फज्ल की इस उक्ति का और क्या अर्थ हो सकता है?—'हिंदू चित्रकारों के चित्र हम लोगों की भावना से कहीं ऊँचे होते हैं। सारे संसार में ऐसे बहुत कम कलाकार हैं जो उनके समकक्ष हों।' **राजस्थानी शैली** के लिये तो यह हो नहीं सकती, वह तो अभी बिलकुल आरंभिक अवस्था में थी, जिसमें **अपभ्रंश** के विकार झलक रहे थे; दूसरी कोई शैली भारत में थी नहीं। फलतः यह कथन एकमात्र **कश्मीर शैली** के संबंध में हो सकता है जिसके १६वीं शती में अस्तित्व का पता तारानाथ ही नहीं देता, अपितु वह अनुश्रुति भी देती है जो उस्ताद रामप्रसाद के घराने में चली आती है। अकबर शैली से बिलकुल मिलते हुए १६वीं-१७वीं शती के अनेक छिन्न चित्र मिलते हैं जिनका विषय मुख्यतः रामायण, दशावतार तथा कृष्णचरित होता है। इनके पीछे अकसर संस्कृत श्लोक भी रहते हैं। उक्त घरानेवाले इन्हें **कश्मीर कलम** का बताते हैं। **कश्मीर शैली** की सत्ता का एवं अकबरी शैली से उसके संबंध का यह जीवित प्रमाण है (§३७)। जब जैनुलआबदीन के समय में वहाँ सभी कलाओं का खूब उत्कर्ष था तो चित्रकला का क्यों न रहा होगा? साथ ही प्राच्य कला के अन्वेषक इताली के तुची नामक विद्वान् को इसी काल वाले कश्मीरी चित्रकारों के अंकित चित्र भी छोटे तिब्बत आदि में मिले हैं एवं अष्टछाप वाले परमानन्द दास के एक पद में कश्मीर के बने दशावतार आदि के चित्रों की चर्चा है।

अब इस संबंध में इसके सिवा, कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि—अब्दुस्समद के विषय में अबुल्फज्ल के इस कथन की कि—'जब से इन पर श्रीमान् की कृपादृष्टि हुई है, यह कला की वाह्य आकृति के बदले उसके अंतरात्मा की ओर प्रवृत्त हुए हैं', यही ध्वनि हो सकती है कि अकबर ने ख्वाजा से **कश्मीर शैली** ग्रहण कराई थी [1]।

१—जहाँगीर के प्रिय चित्रकार अबुल्हसन (§ ४०) की शैली मूलतः **ईरानी** थी किन्तु पीछे से वह जहाँगीर कालीन **मुगल शैली** (§ ४०) के चित्र बनाता। शाहजहाँ के दरबार का चित्रकार मुहम्मद नादिर समरकन्द का था किन्तु वह सर्वथा **मुगल**

भारतीय चित्रकला के सभी विद्वानों का, चाहे वे कुमारस्वामी की दृष्टिवाले हों, चाहे स्मिथ की दृष्टिवाले, ध्यान इस बात की ओर गया है कि—(१) अकबरी चित्रों का निजत्व ईरानी कला से बिलकुल पृथक् है। स्मिथ ने तो यहाँ तक निरीक्षण किया कि—(२) हम्जा चित्रपटों में वे काले भालू बने हैं जो कश्मीर ही में होते हैं; इसी प्रकार इनके पर्वत भी कश्मीरी पर्वतों के लाक्षणिक आलेखन हैं। अतएव ये चित्रपट वहीं के बने होने चाहिए। किंतु **कश्मीर शैली** की विद्यमानता का पता न रहने के कारण वे उक्त दोनों बातों का सामंजस्य न कर पाए।

हम्जा चित्रपटों तथा रज्मनामा वाली उक्त देवताओं की छवियों को जब हम इन भालुओं के साथ देखते हैं तो उन चित्रपटों के उद्भव में कश्मीरी भाग निर्विवाद हो जाता है।

हम्जा चित्रावली के चौदह सौ चित्रों में से अब कुछ ऊपर एक सौ चित्रों का पता है, जिनमें से गिनती के दो भारत कला-भवन काशी, और एक बरोदा संग्रहालय में है; शेष सब के सब विदेशों में हैं।

हम्जा चित्रों के बादवाले अकबरी चित्रों में, उनके दोनों तत्त्व, ईरानी कला का कनिष्ठांश तथा भारतीय कला का मुख्यांश, एकदिल हो जाते हैं, जिनके नमूने मुख्यतः ग्रंथ-चित्रों से प्राप्त हैं। अकबर ने जो शबीह तैयार करवाई थीं उनमें की बहुत ही कम मिली हैं (फलक—११)। जब कि मूलतः उनकी संख्या हजारों रही होगी, अब सारे संसार में उनके सौ से अधिक उदाहरण नहीं रह गए हैं। कालस्य कुटिला गतिः !

अकबर के संप्रदायवाले उसके चित्र मढ़ाकर गले में पहनते भी थे। ऐसे चित्रों का भी कोई नमूना अब तक नहीं मिला। यह प्रथा औरंगजेब के समय तक विद्यमान थी।

ख—३—**अकबर कालीन चित्रित ग्रंथ**—अकबर कालीन कतिपय चित्रित ग्रंथ अभी तक बचे हैं। इनमें से कुछ की एकाधिक प्रतियाँ हैं। इसका कारण यह है कि शाही पुस्तकालय आगरे के सिवा दिल्ली और लाहौर में भी रहता था, उसके लिये एकाधिक प्रतियाँ तैयार कराई जाती थीं, शाहजादे तथा उमरा (मुख्यतः खानखाना) भी अपने लिये चित्रित ग्रंथ बनवाते थे और पुस्तक-विक्रेता भी ग्राहकों के लिये उनकी प्रतियाँ प्रस्तुत रखते थे। अस्तु, इन प्राप्त पुस्तकों में से कुछ मुख्य की, किंचित् विवरण सहित सूची, उनकी तैयारी के संभवित समयानुक्रम से यहाँ दी जाती है—

शैली के चित्र बनाता था बल्कि इस शैली के बड़े ही उत्कृष्ट चित्रकारों में से था। ईरानी चित्रकारों द्वारा अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल **मुगल शैली** ग्रहण करने के अन्य उदाहरण भी प्राप्त हैं जिससे यह उपपत्ति प्रमाणित होती है।

छठाँ अध्याय

(१) तारीखे-खानदाने-तैमूरिया—इसमें तैमूरिया वंश के आरंभ से अकबर शासन के बाईसवें वर्ष (१५७७ ई०) तक का इतिहास है। इसकी सचित्र प्रति खुदाबख्श खाँ प्राच्य पुस्तकालय, पटना में है। यतः इसमें दसवंत की कृति भी है, अतः यह उसकी मृत्यु (१५८४ ई०) से पहले, संभवतः (१५८०-८१ ई०) की बनी है। इस प्रति पर बादशाही मुहरें भी हैं। (२) रज्मनामा (महाभारत)—यह अनुवाद १५८२ ई० में, एक वर्ष के सतत परिश्रम और कई दलों के एक संग काम करने से पूरा हुआ और इसकी सचित्र शाही प्रति १५८८ ई० में, तीन जिल्दों में, तैयार हुई। संप्रति यह जयपुर राज्य के पोथीखाने में है। संयोगवश नादिरशाह के आक्रमण से एक वर्ष पूर्व मुहम्मदशाह ने इसे महाराज जयसिंह सवाई को दे दिया था जिससे सारे संसार की सचित्र पुस्तकों का यह कौस्तुभ मणि नाश से वा भारत के बाहर चले जाने से बच गया। इसकी अन्य कई प्रतियों का भी पता है। (३) रामायण—जिसकी एक सचित्र प्रति जयपुर के पोथीखाने में उक्त रज्मनामे के साथ है। एक अमरीका में भी सुनी गई है। (४) वाकआत बाबरी (बाबर की आत्मकथा)[1]—तुर्की से इसका फारसी अनुवाद खानखाना ने किया, जिसकी एकप्रति १५८९ ई० में अकबर को भेंट की। स्वभावतः यह प्रति पहली और सचित्र रही होगी। संप्रति इसकी तीन प्रतियाँ ज्ञात हैं — एक ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन में, दूसरी खंडित, साउथ केंसिंगटन संग्रहालय में, तीसरी फ्रांस के लूव्र संग्रहालय में। (५) अकबर-नामा— यह १६०१ई० में पूरा हुआ। इसकी एक सचित्र प्रति साउथ केंसिंगटन संग्रहालय में है, जिस पर जहाँगीर का १६०६ ई० का लेख है। यह निश्चित रूप से इसकी प्रथम प्रति है, क्योंकि इसमें सौ से ऊपर चित्र हैं जिनकी तैयारी के लिये कम से कम चार वर्ष का समय चाहिए। अर्थात् यह १६०५ ई० में तैयार हुई होगी। इसी सन् में अकबर का अवसान हुआ; अतः राज्यारोहण पर जहाँगीर ने अपना नाम चढ़ाया। अकबर-नामे की एक चित्रित प्रति लंदन के चेस्टर बेटी के अद्वितीय संग्रह में भी है। यह है तो उसी काल की, किंतु इसके चित्र केंसिंगटनवाली प्रति की श्रेणी के नहीं हैं। संभवतः यह खानखाना वा किसी शाहजादे के लिये तैयार हुई थी।

इनके सिवा अनवारे सुहैली[2] की अकबर कालीन कम से कम चार

१—(§ ३२)

२—यह पंचतंत्र का एक अन्य फारसी अनुवाद है जिसे १५वीं-१६वीं शती में, मुल्ला हुसैनवायज अल काशफी ने अपने आश्रयदाता शेख अहमद-अल-सुहैली के नाम

चित्रित प्रतियों का पता है। इनमें से एक महाराज बलरामपुर के यहाँ है जो १६०० ई० में लाहौर में तैयार हुई थी (फलक—१०)। दूसरी लंदन के ब्रिटिश संग्रहालय में है। इसके पूर्ण होने का समय १६१० ई० है किंतु इसमें के दो चित्र १६०४ ई० के हैं; अर्थात् पुस्तक का चित्रण अकबर काल में ही प्रारंभ हो गया था। इसमें दस हिंदू और छः मुसलमान गुणियों के आलेखन हैं। तीसरी रामपुर राज्य के पुस्तकालय में और चौथी रॉयल एशिअैटिक सोसाइटी, लंदन में है। अनवारे सुहैली का एक चित्र भारत-कला-भवन में है जो किसी सचित्र प्रति का ही पन्ना रहा होगा। अब **वसली** पर है। इसका चित्रकार तारा है जो अबुल्फज्ल की आईनवाली सूची में आया है। यह प्रति सब प्रतियों से अच्छी, अतः सम्राट् के पुस्तकालय की प्रधान प्रति रही होगी।

अकबर की आज्ञा से पंचतंत्र का फारसी अनुवाद, अबुल्फज्ल ने सीधे संस्कृत से १५८८ ई० में, अयारदानिश नाम से किया। इसके कुछ सचित्र पन्ने इस समय बंबई के एक भारतीय चित्र-व्यापारी के पास विक्रयार्थ हैं।

इनके अतिरिक्त तारीख रशीदी, दाराबनामा, खमसा निजामी तथा बहारिस्ताने जामी आदि की प्रतियाँ, इँगलैंड, यूरप और अमरीका के निजी वा सार्वजनिक संग्रहों में हैं। इनमें से कुछ पर तो तिथियाँ हैं। शेष की तिथियाँ निश्चित करने का सीधा मार्ग यह है कि यदि रचना अकबर काल की है तो उसकी चित्रित प्रति उसके समाप्ति-काल से जो प्रायः आईन, बदायूनी आदि से प्राप्त हो जाता है, चार से सात बरस के भीतर निर्मित होनी चाहिए। यदि ग्रंथ पहले का है तो वेश-भूषा एवं आलेखन शैली, जिसमें अकबरी-काल में ही विकास पाया जाता है, तथा चित्रकारों के नाम से जो प्रायः सब चित्रों में पाए जाते हैं, उसका समय निर्धारित करना चाहिए।

उक्त पोथियों के सिवा अनेक पोथियों के छिन्न पत्र भी मिलते हैं जो संसार भर के निजी और सार्वजनिक भारतीय संग्रहों में फैले हुए हैं। इसी प्रकार का, हरिवंश के फारसी अनुवाद का, जो अकबर ने मुल्ला शीरीं से, संभवतः 'भारत' के अनुवाद के बाद कराया था, एक सचित्र पन्ना भारत कला-भवन में है। इसका समय लग० १६०० ई० में है। इसमें यह कथा अंकित है कि आदि राजा पृथु ने पृथिवी से कहा कि मैं तुझे दुहूँगा, जिसे अस्वीकार

पर किया था। पंचतंत्र का यह रूप फारसी वाङ्मय में सबसे अधिक लोकप्रिय है।

कर पृथिवी गाय का रूप लेकर भागी और राजा ने उसका पीछा किया। गाय रूपी पृथिवी आकाश में भागी चली जा रही है; धनुष्पाणि पृथु उसका पीछा कर रहा है। नीचे खड़े लोग चिंता और अचरज से देख रहे हैं कि अब क्या होता है। इस चित्र में जैसी गति और सजीवता है, रंगों में वैसी ही तरावट और मलाहियत भी है।

तवारीख अलफ़ी आदि कितनी पुस्तकों की समूची प्रतियाँ अभी-अभी तक विद्यमान थीं। भारतीय चित्रों की मांग के कारण चित्र व्यापारियों ने इन्हें बड़ी बेरहमी से छिन्न-भिन्न कर डाला।

ख—४—**अकबर शैली की विशेषताएँ**—अकबर के पुस्तकालय में चौबीस हजार पुस्तकें थीं। फैजी के देहांत के बाद (१५६५ ई० में) उसके संग्रह से भी चार हजार तीन सौ पुस्तकें शाही पुस्तकालय में आईं। लगभग तीस हजार पुस्तकों के इस विशाल संग्रह में हजारों नहीं तो सैकड़ों चित्रित पुस्तकें अवश्य रही होंगी। अब जो बच रहा है वह महासागर का एक बिंदु मात्र है।

इनमें के चित्रों के रंग मीने जैसे दबीज और ओपदार हैं। अबुल्फज्ल की यह उक्ति कि रंगों के संबंध में बहुत उन्नति हुई है, इनके देखने से प्रत्यक्ष हो जाती है। इनमें तीन श्रेणियों के रंग का प्रयोग पाया जाता है (१) चुहचुहाते वा चमकते हुए जिसमें मुख्यतः क—सिंदूर, प्योड़ी (पीला) और लाजवर्दी (नीला) तथा ख—हिंगुल, गुलाली और जंगाल (हरा) है; (२) बुते हुए, क—गेरू, हिरौंजी, रामरज तथा हरा ढाबा और ख—नील तथा स्याही। सफेद का प्रयोग रंगों को हलका करने के लिये वा स्वतंत्र रूप से हुआ है। अकबर कालीन चित्रों में ये रंग वा इनके मिश्रण, साया का रंग मिला के, बदरंग नहीं किए गए हैं। इसी से वे हरदम टटके जान पड़ते हैं।

हम्जा चित्रों के बाद अपने पूर्ण विकास काल में यह शैली **ईरानी, कश्मीर** तथा **राजस्थानी** विशेषताओं को आत्मसात् करके एक बड़े ही सुंदर रूप में प्रकट होती है। इसके उत्कृष्टतम नमूने—पटना पुस्तकालय तवारीखे खानदाने तैमूरिया तथा जयपुर का महाभारत है। इनमें दसवंत तथा बसावन की कृतियाँ भी हैं। यद्यपि इन दोनों का विषय बिलकुल प्रतिकूल दिशाओं का है फिर भी शैली की दृष्टि से दोनों एक हैं। यही एकता इन्हीं में नहीं सभी विकसित अकबरी चित्रों में व्याप्त है, अकबर के सिद्धांत वाक्य 'सुलह कुल' का मूर्तरूप है। इस एकता को हम रेखाओं की गुलाई, आलेखन में डौल, गति, **एकचश्म** चेहरों, (§ २९ ख) हस्त मुद्राओं, वस्त्रों की शिकन तथा फहरान, वृक्षों के स्वाभाविक आलेखन एवं अभिव्यंजक **संयोजन** के रूप में पाते हैं, जो सभी अकबरी ग्रंथ-चित्रों में सर्वथा समान है। इस एकता को हम चित्रों की दो और बातों में पाते हैं—एक तो प्रायः सभी ऐसे चित्र एकाधिक, बहुत करके तीन चित्रकारों के

सहयोग से बने हैं। एक ने **टिपाई** की है, दूसरे ने **गदकारी** (=रंगामेजी) और तीसरे ने **खुलाई**। दूसरे इनके अधिकांश कलाकार, प्रायः पंचानबे प्रतिशत, हिंदू हैं।

इस प्रकार **अकबरी कला** अपने विकसित रूप में, अपना निजस्व प्राप्त कर लेने पर भी, सर्वथा भारतीय रहती है, क्योंकि एकता की उक्त विशेषताएँ **ईरानी शैली** (§ ३४) से सर्वथा विपरीत एवं पूर्णतः भारतीय हैं। उनमें जो कुछ **ईरानी**पन है वह नक्काशी में वा आलंकारिक आलेखन में है, किंतु वह गौण है। अर्थात् **ईरानीकला** की विशेषता इस शैली की एक अवांतर ब्योरा बन गई है। कारीगरों का उक्त सहयोग उनकी श्रेणियों के समय से चला अता है। **एकचश्म** चेहरे की भाँति **ईरानी शैली** में इस चाल का भी अभाव है।

यद्यपि यह शैली अकबर के कारखाने में लालित-पालित हुई थी, किंतु चित्रकारों के जो विषय आलेखन को लिये दिये गये थे उनमें अधिकांश, जैसे भारतीय लोक वा धर्म कथाओं के एवं अकबर के जीवन के (क्योंकि उस समय के भारतीय अकबर को पूर्व जन्म का तपस्वी मानते थे), उन (चित्रकारों) की भावाभिव्यक्ति एवं परंपरा के सर्वथा अनुकूल थे। इसी से इन चित्रों में इतनी सजीवता और उन्मुक्तता पाई जाती है।

सच तो यह है कि **अकबरी चित्रकला** की अपनी एक अलग शैली है। यदि वह **मुगल शैली** के अंतर्गत आ सकती है तो केवल इस कारण कि अकबर मुगल था।

§ ३६. चित्रों और चित्रकारों के प्रति अकबर का भाव—अबुल्फज्ल ने आईन में बताया है कि अकबर का चित्र और चित्रकारों से कितना प्रेम था और उनके प्रति उसकी कैसी उदार और आदर बुद्धि थी। उसके कितने ही चित्रकार मन्सबदार एव ओहदों पर थे। १५७३ ई० में जब उसने, अपने चुने से चुने सत्ताइस सरदारों को लेकर अहमदाबाद पर तूफानी धावा किया था[1] तो उसके उक्त दल में तीन चित्रकार भी थे। उसके यहाँ यदि कोई विशिष्ट अतिथि आता था तो उसे अपने चित्र के कारखाने की भी सैर कराता था। जहाँगीर लिखता है कि अब्दुस्समद को अकबर बड़े सम्मान से रखता था। १५७७ ई० में अकबर ने अब्दुस्समद को अपनी टकसाल का अफसर बनाया था।

§ ३७. १६ वीं शती में कश्मीर शैली—ऊपर (३५ ख-२) इस शैली के इस कालवाले फुटकर चित्रों का उल्लेख हो चुका है। इनके सिवा इस शैली के चित्रों से विभूषित आचार्य केशवदास की रसिकप्रिया की एक प्रति के चौवालीस चित्र पाए गए हैं। इनमें से बत्तीस बोस्टन

१—अकबर ने, २३ अगस्त को आगरे से निकल कर २सरी सितंबर को अहमदाबाद में युद्ध शुरू कर दिया था, अर्थात् सारा मार्ग केवल नौ दिन में तै किया था जो उस काल की सवारियों की दृष्टि से वायुयान की गति हुई।

संग्रहालय में, शेष लंदन तथा शेष अमरीका के निजी और सार्वजनिक संग्रहों में हैं। **अकबरी** चित्रों में **कश्मीर शैली** का कितना अंश है, इसका ज्ञान इन चित्रों को देखने से होता है; यहाँ तक कि कुमारस्वामी को इन चित्रों में अकबर-कालीन **मुगल शैली** का धोखा हुआ है और उन्होंने इन्हें उसी विभाग में दर्ज किया है। रसिकप्रिया १५९१ ई० में पूरी हुई थी, अतएव कुमारस्वामी की यह स्थापना नहीं मानी जा सकती कि यह प्रति बीरबल के लिये तैयार की गई हो सकती है, क्योंकि वे १५८६ ई० में वीर-गति पा चुके थे; फिर भी शैली और अक्षरों के अनुसार यह लग०-१६००—१६१० ई० की जान पड़ती है।

§ ३८. **१६ वीं शती में राजस्थान शैली**—इस शती में यह शैली उस अवस्था से क्रमशः आगे बढ़ रही थी जिसमें हमने उसे १५वीं शती में छोड़ा है (§ २९,ख)। अब यह शैली **अपभ्रंश शैली** के मुख्य गढ़, जैन चित्रित पोथियों पर अपना अधिकार जमाने लगती है। १५६० ई० की उत्तराध्ययन सूत्र की एक प्रति श्री साराभाई नवाब के पास है। इसके चित्रों में हम उक्त संक्रमण के उदाहरण, अर्थात् **राजस्थानी** और **अपभ्रंश शैली** का विचित्र सम्मिश्रण पाते हैं। १६ वीं शती के साथ अपभ्रंश शैली समाप्त हो जाती है; १७वीं शती में पहुच कर जैन पोथियों एवं चित्रों में पूर्णरूप से **राजस्थानी शैली** का व्यवहार होने लगता है।

क—**व्रज में राजस्थानी शैली का केन्द्र**—ऊपर (§ ३५ ख-२) हमने चर्चा की है कि हम्जा चित्रावली में **मीनाक्ष** अर्थात् फड़कती हुई मछली की तरह बाँकी आँखें भी पाई जाती हैं। यह एक संयोग हो, सो नहीं; क्योंकि उन चित्रपटों में ऐसी आँखें अनेक बार लिखी गयी हैं और जहाँ ये उरेही गई हैं वहाँ इनका पूरक भ्रू-चाप भी मौजूद है। विकसित **राजस्थानी शैली** में सर्वत्र ऐसी ही आँख पाई जाती है। इतना ही नहीं, जहाँगीर-काल बीतते न बीतते नेत्र का यह प्रकार **मुगल शैली** में भी व्यवहृत होने लगता है और १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में तो इसका एकाधिपत्य हो जाता है।

यह आँख १६वीं शती के पूर्वार्द्ध से **राजस्थानी शैली** का एक दूसरा केन्द्र बनने की सूचक है। यह केंद्र व्रज होना चाहिए जहाँ उस समय वैष्णव-पुनरुत्थान में पूरी सक्रियता आ चुकी थी। वहीं के कृष्ण-चित्रों में इस कटावदार आँख का पहले पहल आलेखन हुआ होगा, क्योंकि यह उस काल के रसिकराय कृष्ण की छवि के अनुरूप है। अब भी नाथद्वारा के चित्रों में इसका आलेखन विशेष रूप से पाया जाता है, क्योंकि वहाँ के चित्रकार उसी परंपरा के हैं जो आरंभ ही से वल्लभ संप्रदाय से संबंधित है, जिसका मुख्य केंद्र नाथद्वारा के पहले व्रज था।

§३९. **१६वीं शती में चित्र-वाङ्मय**—यों तो अकबर ने भी सीकरी में भित्ति-चित्र बनवाए थे, जो हम्जा चित्रावली से मिलते जुलते हैं, किंतु विशिष्ट रूप में यह

प्रथा दक्षिण भारत में ही जीवित थी। फलतः १६वीं शती में केरल के श्रीकुमार ने अपनी शिल्परत्न नामक वास्तुशास्त्र की पुस्तक में चित्रांकण का सिद्धान्त और विधान भी दिया है। इसकी बातें चित्रसूत्र और अभिलषितार्थ-चिंतामणि की परंपरा में हैं अतः उन्हें दुहराने की आवश्यकता नहीं। शिल्परत्न त्रिवेंद्रम् सीरीज़ में प्रकाशित हो चुका है। विहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च जर्नल (भाग ९, अंक १) में जायसवाल का इस पर एक लेख भी है।

सातवाँ अध्याय

§ ४०. **जहाँगीर (१६०५—१६२७ ई०) तथा जहाँगीर कालीन मुगल शैली (१६१०—१६२७ ई०)**—जहाँगीर बड़ा ही सहृदय, सुरुचि-संपन्न, परले दरजे का चित्रप्रेमी, प्रकृति-सौंदर्य-उपासक, वृक्ष खग-मृग-विज्ञानी, संग्रहकर्ता, विशद वर्णनकार और सबके ऊपर पक्का जिज्ञासु, निसर्ग-निरीक्षक और प्रज्ञावादी था। जिस बात को उसकी बुद्धि गवारा न करती उसे वह पास न फटकने देता। यद्यपि उसकी विशेषताओं के और भी पहलू हैं किंतु हमें इन्हीं से काम है। उसके समय की चित्रकला भी उसकी इन्हीं
११ वृत्तियों की प्रतीक है।

अकबर की वह चित्रकला, जिसकी रेखा-रेखा में भारतीय संस्कृति के उस महान् प्रतिसंस्कारक की भावना और प्रेरणा बोल रही है, जहाँगीर के राज्यारोहण के प्रायः पाँच वर्ष बाद तक बनी रही। इसके उपरांत मुगल कला का संबंध ईरानी शैली से होता है। जहाँगीर के आश्रय में उसकी कुमारावस्था से ही आका रिजा नामक एक ईरानी चित्रकार था। उसका पुत्र अबुल्हसन जहाँगीर का बड़ा प्यारा चित्रकार था। अकबरी प्रभाव के समाप्त होते ही जहाँगीर-कालीन चित्र-कला पर उसका पूर्ण वा आंशिक प्रभाव मिलने लगता है। साथ ही जहाँगीर का आशय उतना उदार न होने के कारण चित्रकला के विषयों का दायरा बहुत ही सीमित हो गया। अब उसमें लोक वा धार्मिक कथाओं के चित्रों तथा ख्याली चित्रों का अभाव हो गया। उसका मुख्य संबंध जहाँगीर विषयक घटनाओं और उसका ध्यान आकृष्ट करने वाली वस्तुओं से रह जाता है। इसी कारण थोड़े ही दिनों में उसमें से ईरानी प्रभाव भी दूर हो जाता है और उसके बदले असलियत और निसर्ग-निरीक्षण आ जाता है।

जहाँगीर ने भी अपना आत्मचरित लिखा है। यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से यह वैसी उच्च-कोटि का नहीं है, जैसा बाबर का, फिर भी यह बहुत सुंदर और बड़े ही रोचक शब्दचित्रों एवं विवरणों से पूर्ण है, तथा चित्रों की चर्चा तो इसमें सर्वत्र विद्यमान है। स्व० मुं० देवीप्रसाद ने अपने जहाँगीरनामा में इसका अधिकांश हिंदी पाठकों के लिये सुप्राप्य कर दिया है। राज्यारोहण से बारह वर्ष तक का आत्मचरित पूरा हो जाने पर जहाँगीर ने अपने सेवकों को देने तथा देशांतर में भेजने के लिये उसकी कई प्रतियाँ प्रस्तुत करने की आज्ञा दी। चौदहवें वर्ष में उसकी पहली प्रति तैयार हुई जिसमें अबुल्हसन ने दरबार का मुखचित्र बनाया था। इस उपलक्ष्य में उसे नादिरुज्जमाँ की उपाधि मिली। बादशाह ने यह पहली प्रति अपने अभिलेखपूर्वक शाहजहाँ को दी। पंद्रहवें वर्ष अपने दूसरे पुत्र परवेज के लिये दूसरी प्रति भेजी। इनमें से अभी तक एक भी उपलब्ध तो नहीं किंतु उसके अलग-अलग चित्र जो जहाँगीर की जीवनी से संबंध रखते हैं, संसार भर के भारतीय संग्रहों में फैले हुए हैं (फलक—१२)। इन चित्रों के सिवा जहाँगीर जो भी सुंदर वा विलक्षण पशु पक्षी (फलक—१३), फूल वा वृक्ष देखता उनके चित्र तैयार करा लेता। इस प्रकार के चित्रों का मुख्य निर्माता उसका दरबारी चित्रकार उस्ताद मंसूर था।

अपने क्रोध, करुणा वा सौहार्द आदि की वृत्तियों के परितोषार्थ भी वह चित्र बनवाता था—जैसे, यदि कोई उसे दगा देकर निकल जाता तो उसके चित्र की भर्त्सना करने में उसे शांति मिलती। इसी प्रकार अपने एक दरबारी इनायतखाँ को, परम दयनीय अंतिम

दशा में वह देखने गया और उसके प्रति अपनी सहानुभूति, उसका अस्थिशेष चित्र बनवाकर व्यक्त की। इस चित्र का प्रथम रेखांकन बोस्टन संग्रहालय में और रंगीन प्रति ऑक्सफर्ड के बॉडलियन पुस्तकालय में है। इसके तथा अन्य कई चित्रों के तैयार होने की ठीक-ठीक तिथि जहाँगीर के आत्मचरित के सहारे बताई जा सकती है। अब सौहार्द-विषयक चित्र का उदाहरण लीजिए—

बिशनदास नामक एक परम कुशल चित्रकार उसकी सेवा में था। उसके बारे में बादशाह ने अपनी रामकहानी में लिखा है कि शबीह लगाने में यह अपना जोड़ नहीं रखता। इसी लिये उसने अपने जो राजदूत ईरान के शासक शाह अब्बास के यहाँ भेजे थे (१६१७-१८ ई०), उनके संग बिशनदास को ही शाह का चित्र बनाने के लिये भेजा था। जहाँगीर लिखता है कि 'उसने मेरे भाई शाह अब्बास की ऐसी सच्ची शबीह लगाई कि मैंने जो उसे शाह के नौकरों को दिखाया तो वे मान गए। मैंने बिशनदास को एक हाथी और बहुत कुछ पुरस्कार दिया'। बिशनदास का यह आलेखन संप्रति बोस्टन संग्रहालय में है।

इन्हीं बिशनदास का बनाया शेख फूल नामक सूफी संत का चित्र कला-भवन में है। संभवतः इसपर जहाँगीर की हस्तलिपि भी है। हम देखते हैं कि ये पहुँचे हुए संत अपनी कुटी के आगे अपनी धुन में मस्त हैं और उनका प्रभाव उस भीड़ पर छाया हुआ है जो उनके दर्शनों के लिये वहाँ एकत्र है। ऊपर एक हरा भरा नीम का पेड़ इस दृश्य में बड़ी तरावट पहुँचा रहा है। छतों पर कौए का एक जोड़ा अपनी धुन में बैठा है। सच्चे साधुओं पर जहाँगीर को अगार श्रद्धा थी। वह उनके दर्शनों को जाता और उनके चित्र बनवाता। उन्हीं में का यह चित्र है। एक चित्र में हम उसे तत्कालीन चिद्रूप स्वामी के सत्संग में पाते हैं।

क—**जहाँगीर कालीन स्त्री-चित्र**—संभवतः अकबर के समय में उसकी माता हमीदाबानू बेगम की और जहाँगीर के समय में नूरजहाँ की भी **शबीह** तैयार हुई थी।

मुगल शैली के विद्वान् डा० हरमन गोअट्ज़ ने नूरजहाँ के एक चित्र को वास्तविक प्रमाणित किया है। इस स्थापना पर गंभीरता-पूर्वक विचार होना चाहिए। जनश्रुति के अनुसार जहाँगीरी सिक्कों पर सम्राट् का नूरजहाँ के साथ चित्र का उल्लेख मिलता है। केवल सम्राट् के चित्रवाले सिक्के मिले भी हैं जिनमें उसकी आकृति अत्यंत वास्तविक बनी है। साथ ही जहाँगीर के वास्तविक-प्रेम को देखते हुए मानना होगा कि यदि नूरजहाँ की आकृति वाले सिक्के ढले होंगे तो उनमें पूरी यथार्थता रही होगी।

जहाँगीर-काल में स्त्रियाँ चित्र अंकित करती थीं, इतना तो निश्चित है। भारत-कला-भवन में उस काल का एक ऐसा चित्र है जिसमें एक चित्रकरी एक स्त्री की शबीह लगा रही है।

ख—**जहाँगीर शैली की विशेषताएँ**—हमने ऊपर देखा कि जहाँगीर कालीन **मुगल शैली** ने एक नया रास्ता लिया है। उसमें रूढ़ि न रहकर असलियत आ गई है; यही कारण है कि वह ईरानी प्रभाव से भी मुक्त हो गई है। बारीकी और तैयारी में वह अकबरी चित्रों से कहीं आगे बढ़ गई है। यद्यपि उसके दरबारी दृश्यों में मुगल अदब-कायदे के कारण गति और सजीवता नहीं है तथापि उसके जीवनी-संबंधी अन्य दृश्यों में काफी गति और सजीवता भी पाई जाती है। शिकार के चित्र इसके अच्छे उदाहरण हैं। उनमें के हाथियों में वह सारी परंपरा मौजूद है जो मोहनजोदड़ों के समय से चली आती है जिसकी चर्चा अकबर-कालीन चित्रों में भी की गई है (§ ३५ ख २)। फलक—१२ में एक ओर दरबारी गंभीरता, दूसरी ओर मूर्खों और भिक्षुकों के चित्र में यथेष्ट भाव और अभिव्यक्ति है। पशु-पक्षियों के चित्र में भी कमाल का स्वभाव दिखाया गया है। उदाहरणार्थ फलक—१३ वाले बाज के चित्र की कठोर आँख और सिमटी पलक द्वारा उसका स्वभाव पढ़िए।

इन विशेषताओं के कारण जहाँगीर-काल **मुगल-कला** का पूर्ण यौवन है। इसमें उसका निजस्व खिल जाता है और वह एक महान् पुरुष की कला न रहकर, पूरब के बड़े दिलदार बादशाह की कला हो उठती है।

ग—**जहाँगीरी चित्रों में स्वाभाविकता**—यह एक समस्या है कि जहाँगीर कालीन चित्रों में इतनी स्वाभाविकता कहाँ से आई। उत्तर देने के लिये सीधा मार्ग है—'फिरंगी प्रभाव से'। किंतु इसी से संतोष नहीं किया जा सकता। निःसंदेह यह बात सर्वविदित है कि जहाँगीर के समय में यहाँ यूरप के चित्र काफी तादाद में आ चुके थे और आ रहे थे, इतना ही नहीं जहाँगीर उनकी कदर और संग्रह भी करता था। उस समय यहाँ के कारीगर उनकी प्रतिकृति और उनके आधार पर स्वतंत्र चित्र भी बनाते थे। जहाँगीर-कालीन कुछ चित्रों की **पृष्ठिका** वा अंश-विशेष में यूरोपीय दृश्य भी नकल किए गए हैं; फिर भी देखना तो यह है कि उक्त स्वाभाविकता यूरोपीय शैली की है वा स्वतंत्र। हमारा उत्तर है कि वह स्वतंत्र है। जहाँगीरी चित्रों के चेहरे **एकचश्म** हैं जो यूरोपीय कला में अपवाद रूप से पाए जाते हैं। जहाँगीर की हजारों तसवीरों में केवल एक **डेढ़चश्म** तसवीर मिली है, सो भी उस पर नाम नहीं दिया है। रूप-सादृश्य से अनुमान किया जाता है कि वह जहाँगीर की है। यदि फिरंगी प्रभाव होता तो जहाँगीर की हजारों **डेढ़चश्म** और एकाध **एकचश्म** तसवीर मिलती। इसी प्रकार **साया** और **उजाले** के प्रयोग से यूरप की तसवीरों में पूरा **डौल** दिखाया जाता है। जहाँगीरी चित्रों में वैसा साया और उजाला नहीं पाया जाता। हाँ, कहीं-कहीं ईरानी प्रभाववश स्याह-कलम में पहल (एवं घुमाव) दिखलाकर साया का सुझाव कर दिया जाता है जिससे साया का काम नहीं रह जाता। फिर इन चित्रों का **दृष्टिक्रम** (पर्सपेक्टिव) विदेशी चित्रों

से बिलकुल पृथक् है। चित्रों के ये ही तीन मुख्य अंग हैं। जब इनमें इतनी विभिन्नता है तो कैसे जहाँगीरी स्वाभाविकता, 'फिरंगी प्रभाव से' पैदा हुई मान ली जाय? सर टॉमस रो ने लिखा है कि बादशाही चित्रकार शबीह लगाने में अद्वितीय हैं। यदि उनपर यूरोपीय प्रभाव होता तो वह इसका उल्लेख न छोड़ जाता।

यदि जहाँगीर के जीवन से चित्रकला इतनी संबद्ध थी कि वह किसी चित्र को देखकर यह तक बता देने की शक्ति रखता था कि उसका कौन अंश किस उस्ताद का बनाया हुआ है; यदि वह चित्रों के लिये इँगलैंड के राजदूत टॉमस रो से मोल-भाव कर सकता था; यदि तैमूर के असली चित्र मिल जाने की संभावना से उसे एक नया राज्य पाने की प्रसन्नता हो सकती थी; और यदि चित्रकारों को चित्र के गुण-दोष बताते हुए उसके चित्र पाए जाते हैं तो—जब कि उसने अपने चित्रों का विषय अपनी जीवन-घटनाओं और अपने निसर्ग-प्रेम द्वारा सीमित रखा था—क्या उसने इस बात पर पूरा बल न दिया होगा कि उसके लिये स्वाभाविक चित्र बनाए जायँ; विशेषतः जब कि वह हर बात में तथ्य और वास्तविकता का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षक था। जहाँगीरी चित्रों में असलियत का इससे सीधा और स्पष्ट कारण क्या हो सकता है?

जहाँगीर के प्रगाढ़ चित्र-प्रेम के उदाहरण—

(१) जहाँगीर अपने आत्मचरित में सिंहासनारोहण के चौदहवें बरस लिखता है—"मेरी चित्र की रुचि पहचान और यहाँ तक बढ़ गई है कि प्राचीन और नवीन उस्तादों में से जिस किसी का काम मेरे देखने में आता है, मैं उसका नाम सुने बिना ही झट उसे पहचान लेता हूँ कि अमुक उस्ताद का बनाया है। यदि एक चित्र में कई चेहरे हों और हरेक चेहरा अलग-अलग चित्रकार का बनाया हुआ हो तो मैं जान सकता हूँ कि कौन चेहरा किसने बनाया है। और यदि एकही चेहरे में आँखें किसी की और भवें किसी की बनाई हुई हों तो भी मैं पहचान लूँगा कि बनानेवाले कौन हैं"।[1]

(२) इँगलैंड के राजदूत सर टॉमस रो ने अपने यात्रावृत्तांत में लिखा है—"बादशाह को मैंने एक चित्र दिया था। मुझे विश्वास था कि भारत में उसकी नकल होना असंभव है। एक दिन बादशाह ने मुझे बुलाकर पूछा कि उस चित्र के तद्वत् प्रतिकृतिकार को क्या दोगे? मैंने कहा—चित्रकार का पुरस्कार ५०) है। उत्तर मिला—मेरा चित्रकार मंसबदार है, उसके लिये यह पुरस्कार बहुत थोड़ा है। रात में मैं पुनः बुलाया गया और मुझे मेरे चित्र जैसे छः चित्र दिखाए गए कि इनमें से अपना चित्र छाँट लो। कुछ कठिनता से मैं अपना चित्र पहचान पाया और मैंने प्रतिकृतियों के अंतर बताए। उपरांत पुरस्कार का

१—जहाँगीरनामा, दूसरा भाग, पृ० ३३१

मोल-भाव पुनः आरंभ हुआ × ×" (सारांश)।

(३) जहाँगीर के एक उमरा ने उसके पास एक तसवीर भेजी जिसे फिरंगी अमीर तैमूर की बताते थे। बादशाह राज्यारोहण के तीसरे बरस लिखता है—"जो यह बात कुछ भी सच होती तो कोई पदार्थ इस चित्र से बढ़कर मेरे समीप नहीं था"[1]।

(४) ऐसा एक चित्र पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय में है, जिसे ल्युकिन ने अपनी पुस्तक में प्रकाशित किया है (फलक—२४ बी)।

घ—**एकचश्म शबीह का कारण**—इसके भी कई कारण सोचे गए हैं; किंतु ठीक वही है जो उस्ताद रामप्रसाद को परंपरा से ज्ञात है अर्थात् **एकचश्म** चेहरे में उसके प्रत्यंगों अर्थात् ललाट, नाक, ओठ और ठुड्डी का **सरहद** कायम रहता है अतः शबीह जल्दी लग जाती है; शबीह लगवानेवाले को कष्ट नहीं होता।

एकचश्म चेहरे अर्थात् जिनमें मुँह का केवल एक रुख दिखाया जाता है जहाँगीर-कालीन चित्रों में पूर्ण रूप से प्रचलित हो गए, उनमें आँखें कटावदार बनने लगीं। जहाँगीर शैली की ये दोनों विशेषताएँ नितांत भारतीय हैं। भारतीय परंपरा में **एकचश्म** चेहरे चले ही आते थे (§ २६ ख)। अब शबीह के संबंध में उक्त सुविधा होने के कारण वे मुगल शैली में एकाधिपत्य पा गए।

इसी प्रकार इन चित्रों का संयोजन अर्थात् रमणीयता उत्पन्न करने के लिये ठीक-ठीक जुहान ईरानी ढंग की न होकर भारतीय ढंग की अर्थात् सम धरातल पर है—आकाशीय नहीं। ऐसी एक धरातल पर वाली जुहान अजंता से **अपभ्रंश शैली** में होती हुई **राजस्थानी शैली** तक चली आई है।

ङ—**मुगल चित्र का विधान और सज्जा**—यतः जहाँगीर-काल में पुस्तक-चित्रों के बदले अधिकतर छिन्न चित्र ही बनने लगे थे जो मुरक्क़ों वा चित्राधारों में रखे जाते थे अतः उनके विधान और सजा एवं इसी प्रसंग में उनके रंगों की कुछ चर्चा आवश्यक जान पड़ती है।

थोड़े में मुगल विधान यह है कि अच्छे क़िस्म वाले कागद के दो तीन पर्त को लेई से एक में साट लेते हैं, इसपर लिकटी (एक में मिली हुई स्याही और गुलाली) वा आबरंग (एक में मिली स्याही, गुलाली और प्योड़ी) से जो **शबीह** वा ख्याली चित्र बनाना होता है उसे अंकित कर जाते हैं। इसे **टिपाई** कहते हैं। फिर इसपर पतले सफेदे का तीन अस्तर देते हैं कि नीचे की आकृति दिखाई देती रहे और **जमीन** बँध जाय; बाद सफेदे की जमीन पर फिर से सम्हालकर टिपाई कर जाते हैं। इसे **सच्ची टिपाई** कहते

१—जहाँगीरनामा, प्रथम भाग, पृ० ११४

हैं। तब चित्र को उलटकर मोटे काँच पर रखते हैं और पीछे से बट्टे द्वारा घोंटते हैं, इससे अस्तर बैठकर बराबर हो जाता है और उसपर ओप आ जाती है। फिर जहाँ-जहाँ जो-जो रंग अपेक्षित होता है उसे दो-दो तीन-तीन बार लगाते हैं। इसे **गदकारी** कहते हैं; और उक्त प्रकार से घोंटते जाते हैं। इससे ओप[1] के सिवा दबाजत भी आ जाती है और चित्र मीनाकारी जैसा जान पड़ता है। तब रूपरेखा (**सरहद के खत**) से आकार और अंग-प्रत्यंग का निर्णय करते हैं। इसे **खुलाई** कहते हैं। साथ ही जहाँ छाया वा सौंदर्यवर्धक रंग लगाने की आवश्यकता रहती है (जैसे आँख के कोये में रतनारापन) उसे भी लगाते जाते हैं। इसे **साया-सुसमा** कहते हैं। तब आभूषण, और यदि स्त्री-चित्र हुआ तो हाथ में मेंहदी, पैर में महावर आदि शृंगार और अलंकरण बनाते हैं। इसे **मोतीमहावर** कहते हैं। उपरांत झीना वस्त्र अर्थात् जिसमें से नीचे का तन वा दूसरा वस्त्र आदि दिखाई पड़े, जैसे स्त्री की ओढ़नी और पुरुष का डुपट्टा, बनाते हैं। इसे **झीना ओढ़ना** कहते हैं। अब तैयारी की घोंटाई करते हैं जिसके साथ चित्र तैयार हो जाता है।

इसके बाद चित्र वसलीसाज और तब नक्काश तथा खतकश के हाथ में जाता है। वसलीसाज उसे कागद के कई पर्त साटकर बनाई गई दफ्ती पर जमाता है जिसे **वसली** कहते हैं और तब नक्काश एवं खतकश बेलों तथा पट्टियों, खतों आदि से उसके हाशिये की सज्जा (अलंकरण) करते हैं।

ऐसे हाशिए भी उत्कृष्ट दस्तकारी के नमूने हैं। उनपर बेल, बूटे, शिकारगाह, बेल-बूटों के बीच-बीच पशु-पक्षी वा ऐसे दृश्य, जिनका संबंध चित्र से हो वा जो चित्र से मेळ खते हों, बने रहते हैं। जान पड़ता है कि हाशिए के शेषोक्त चित्र नक्काश नहीं, चित्रकार ही तैयार करते थे। क्योंकि कभी-कभी तो वे प्रधान चित्र से भी उत्कृष्ट होते हैं। कुछ हाशियों पर सोने के तबक का छिड़काव रहता है जिसे **अफशाँ** कहते हैं। इन हाशियों से चित्रों का सौंदर्य दूना हो जाता है।

वसली के पीछे अकसर फारसी सुलिपि के उत्कृष्ट नमूने जमाए रहते हैं और उनके भी हाशिए बने रहते हैं।

वसली की प्रथा मुगल चित्रों का निजस्व है। यहीं से यह प्रथा १७वीं शती में ईरान में भी प्रचलित हुई; परंतु **राजस्थानी** चित्र १५वीं शती में भी वसली पर बनते थे, अतएव वसली की परंपरा भारतीय प्रमाणित होती है।

इस प्रकार प्रस्तुत और सज्जित किये गए जहाँगीर कालीन चित्र अब भी बड़ी संख्या में प्राप्त हैं।

१—ग्रंथ-चित्रों में यह ओप, उन्हें मुलायम हाथों से साबर माँजकर पैदा करते हैं।

जहाँगीर संबंधी चित्रों के साथ साथ, इनमें उस काल के प्रायः सभी प्रमुख व्यक्तियों के चित्र भी जिनका मुगल शासन वा राजनीति से विरुद्ध किंवा अनुकूल संबंध था, मिलते हैं। इस प्रकार ये जहाँगीर-काल की एक विशाल चित्रशाला बनाते हैं। ऐसे चित्रों के मुरक्के का एक उत्कृष्ट नमूना बर्लिन राजकीय पुस्तकालय में है। इसे जहाँगीर ने शाह-अब्बास के पास उपहार में भेजा था किंतु वहाँ से यह अपने वर्तमान ठिकाने पहुँच गया है।

आठवाँ अध्याय

अकबर काल की भाँति जहाँगीर और शाहजहाँ काल वाले अधिकांश चित्रकार हिन्दू थे। इनमें जहाँगीर कालीन बिशनदास, मनोहर तथा गोवर्धन एवं शाहजहाँ काल के अनूपचतुर, चतुरमणि, होनहार, बालचन्द और विचित्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

मुगल चित्रों में प्रयुक्त रंग--ये रंग प्रधानतः चौदह हैं जो चार वर्गों में बँटते हैं। (क) खनिज—१—गेरू, २—हिरौंजी, ३—रामरज, ४—हरा ढाबा, ५—लाजवर्दी (लाजवर्त को बूककर पानी में निथारते हैं। पथरीला अंश नीचे बैठ जाता है, रंग ऊपर उतरा आता है) एवं ६—सोना तथा ७—चाँदी (तबक हल करके)। (ख) रासायनिक—

८—सफेदा (फूँका जस्ता), ६—सिंदूर (फूँका सीसा), १०—प्योड़ी (केवल आम की पत्ती खिलाकर गऊ को एक खास तरह की मिट्टी पर बाँधते हैं, जो उसके मूत्र से बड़ी स्थायी एवं तेज पीली हो जाती है), ११—स्याही (काजल), १२—जंगाल (सिरके के प्रभाव से ताँबे का रूपांतर)। (ग) जांतविक—१३—गुलाली (एक प्रकार के कृमि को सुखा कर कई मसालों के संग पकाते हैं, जिससे यह, रक्त-जैसा गहरा लाल रंग तैयार होता है)। (घ) वानस्पतिक—१४—नील (नील क्षुप का सार)। कुछ विद्वानों का यह कथन गलत है कि अन्य जांतविक एवं वानस्पतिक रंगों का भी प्रयोग **मुगल** चित्रों में होता था। उक्त दोनों के सिवा ऐसे अन्य सभी रंग उड़नेवाले होते हैं। इसी प्रकार यह भी गप है कि **मुगल** चित्रों में पिसे रत्न लगते थे। पिस जाने पर रत्नों मे वर्ण नहीं रह जाता। प्रायः इन्हीं रंगों का प्रयोग **राजस्थानी** और **कश्मीरी** चित्रों में भी पाया जाता है।

§ ४२. **फारसी सुलिपि**—अभी फारसी सुलिपि की चर्चा हुई है। उसके संबंध में कुछ अधिक कहने की जरूरत है। चित्रण वर्जित होने के कारण अरबों ने अपनी कला-प्रवृत्ति रेखा और वृत्तों से निर्मित नकाशी एवं लिपि की छटा द्वारा व्यक्त की। वही हजरत मुहम्मद के उपदेशों को मूर्त रूप प्रदान करती थी। इस प्रकार अरब में कूफी, नस्क, तुगरा आदि कई सुंदर और अलंकृत लिपियों का जन्म हुआ किन्तु उनमें मुख्यतः कोणों और रेखाओं की बहार थी।

१५ वीं शती में ईरान ने इस लिपि में गोलाई उत्पन्न की, जिसका एक मुख्य भेद नस्तालीक है। इसमें वृत्त खंडों और शोशों का सौंदर्य है। सुलिपि की यह शैली मुगल चित्रकारी की सहचरी रही। अबुलफज्ल ने लिपियों का वर्णन जितने ब्यौरे और बारीकी के साथ किया है चित्रण का उससे कहीं थोड़े में किया है सो भी उसे लिपिकलावाले, अध्याय के अंतर्गत रखकर। इसी से मुगल संस्कृति में लिपि की महत्ता समझ ली जा सकती है।

§ ४२. **१७वीं शती में राजस्थानी शैली**—अकबर ने जिस संस्कृति का निर्माण किया वह देश की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति के इतनी अनुकूल थी कि समूचे देश ने उसे बड़ी शीघ्रता से अपना लिया। **राजस्थानी शैली** पर भी उस नवचेतना का प्रभाव पड़ा। फलतः अधिकतर आरंभिक **राजस्थानी** चित्र इसी काल वाले मिलते हैं। इन चित्रों का एक मुख्य विषय रागमाला है, साथ ही कृष्ण-लीला और नायिकाभेद के चित्र भी मिलते हैं। इस काल की पृष्ठिका में जो पुनरुत्थान हुआ था उसकी तीन शाखाएँ मुख्य थीं—१—संगीत, २—कृष्णभक्तिसंप्रदाय तथा ३—रीतिकाव्य। तीनों के आरंभिक **राजस्थानी शैली** के मुख्य विषय हैं।

पर राजस्थानी चित्रकार का दृष्टिकोण कुछ दूसरा ही था। दृश्य जगत् ही उसकी

परिसीमा न थी; वह अपने कल्पना जगत् की सृष्टि करता। अतः राजस्थानी चित्रों के मुगल वा आधुनिक यथार्थवादी दृष्टिकोण वाले आलोचक वस्तुतः उस शैली के साथ अन्याय करते हैं क्योंकि चित्र में जो तत्त्व हैं, उन्हें वे नहीं देखना बूझना चाहते, उसमें जो तत्त्व नहीं हैं उन्हीं के ढूँढ़ने में लगे रहते हैं। **राजस्थानी शैली** का चित्रकार प्रथमतः **व्यवस्थान** (पैटर्न) का प्रेम है जिसका प्रयोग पृष्ठिका के वृक्षों आदि में पूरा पूरा पाया जाता है। उतना ही उसे रंगों का प्रेमी भी है। यद्यपि उसका वर्ण विधान सीमित है, पर उन वर्णों में आकर्षण है। रंग बिरंगे बादलों में आकर्षण होता है, यद्यपि उनमें कोई सुभग आकार नहीं होता : कह सकते हैं राजस्थानी चित्रकार इसी रूप में ऐसे आकर्षक रंगों का प्रयोग करता है।

इस प्रकार **राजस्थानी शैली** अपने स्रोत में ही विकसित हो रही थी। उस पर मुगल प्रभाव पड़ा, उसमें चैतन्य आया पर उसका स्वरूप न बदला। दक्षिण राजस्थान, मालवा गुजरात के इस कालवाले पूर्वार्ध के नमूनों में आलेखन की आरंभिकता पाई जाती है (फलक १४)। धनाश्री रागिनी का यह चित्र प्रयाग संग्रहालय का है। यद्यपि ऐसे चित्र परंपरागत होते हैं, पर उनमें कलाकार का निजत्व भी पाया जाता है। कलाकार प्रत्येक रागिनी के निर्दिष्ट भावों को व्यक्त करता और इसमें वह जितना सफल होता उतना ही चित्र मार्मिक होता। धनाश्री चित्रों में परंपरागत कबूतरों का एक जोड़ा भी अंकित किया जाता, जो प्रस्तुत चित्र में बहुत ही सजीव है। इस प्रकार के चित्रों की पृष्ठिका बड़े गहरे रंगों की यथा काली हिरौंजी की वा ईंगुर की होती है। चेहरों पर अपभ्रंश शैली की स्पष्ट छाप है। रंग विधान बहुत चटकीला होने पर भी बहुवर्ण नहीं होता। स्त्रियों की चोटियों, नाड़ों और गहनों में बड़े बड़े काले फूँदने होते हैं। १७वीं, शती के उत्तरार्ध वाले चित्रों में आरंभिकता के बदले पुष्टता पाई जाती है तथा पटोल नेत्र के बदले मीनाक्ष का प्रयोग होने लगता है, अर्थात् अब व्रज-उद्गम और मालवा-गुजरात उद्गम की धाराओं का संगम होकर एक प्रवाह चलता है। अब राजस्थानी चित्रों में जीवन अधिक पाया जाता है। चित्रों का विषय भी तनिक और विस्तृत हो गया है, पहले रागमाला का प्रायः एकच्छत्र साम्राज्य था अब नायिका-भेद और कृष्णलीला का भी उतना ही प्रचार हुआ। नायिका भेद के चित्रों में बिहारी और केशव के पद्य मुख्यतः आधार माने जाते हैं। पद्यों के सर्वांग को चित्रित करने में सफल संपुंजन (कंपोजिशन) पाये जाते हैं प्रायः चित्रों में एक ही भाव के दो दृश्य दिखलाये जाते हैं। इनमें प्रेम के विविध पक्षों का मार्मिक चित्रण पाया जाता है। फिर भी उसमें **अपभ्रंश शैली** की कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं (फलक १५)।

बुंदेला-उत्थान के कारण इस समय **बुंदेलखण्ड में** भी हिंदू संस्कृति में नया प्राण-संचार हुआ। फलतः वहाँ भी आरम्भिक **राजस्थानी शैली** के राग माला तथा कृष्णलीला

आदि के चित्र बनने लगे। इन चित्रों में बहुत ही कम कारीगरी है। लिखाई बड़ी भद्दी है तथा रंग इतने मोटे और कम-गोंद लगे हैं कि झड़े पड़ते हैं। इन कारणों से पहले पहल देखने में ये बहुत पुराने मालूम होते हैं। पहले कुमारस्वामी ने इन्हें १६वीं शती के आरंभ का माना था, किंतु बहुत शास्त्रार्थ के बाद अब उस शती के धुर अंत का मानने लगे हैं। दूसरा वर्ग इन्हें लग० १६२० ई० का मानता है, परंतु ये उससे भी कुछ इधर के, लग० १६४० ई० के हैं जैसा कि इनके पहनावे, बुंदेलखंडी इमारत की शैली तथा इन पर की लिपि से प्रकट होता है।

§ ४३. **१७वीं शती में कश्मीर शैली**—महाराज वीरसिंह देव के ओड़छा और दतियावाले महलों में कृष्णलीला आदि के **कश्मीर शैली** के भित्तिचित्र बने हैं। जान पड़ता है महाराज ने अपने महलों को अलंकृत करने के लिये कश्मीर से कारीगर बुलवाए थे, जैसे आज कल यूरप के कारीगर बुलाए जाते हैं।

इन्हीं से मिलते हुए १६२४ ई० के, जैन ग्रंथ, शीलभद्र चरित्र के चित्र हैं जिन्हें आगरे के शालिवाहन नामक उस्ताद ने बनाया था। उसी का १६१० ई० का **लिखा** एक चित्र-पट भी अधिकांश में, इसी शैली का है। इन उदाहरणों से जान पड़ता है कि **कश्मीर शैली** की उस समय काफी पूछ और व्याप्ति थी।

ब्रिटिश संग्रहालय में एक बहुत बड़ा किंतु खंडित चित्रपट है, जिसमें एक उद्यान के बीच एक मंडप बना है। उसमें हुमायूँ से शाहजहाँ तक की चार पीढ़ियाँ बैठी हैं। बाहर दोनों ओर उनके पूर्वज हैं, इधर उधर परिचारक अपने कार्य में व्यस्त हैं। यह चित्र भी इस काल में कश्मीर का बना है। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में इस प्रकार के चित्रों की प्रथा, संभवतः कश्मीर से ही चल पड़ी थी, जिसमें मुगल शासकों की कई पीढ़ियाँ एक संग अंकित की जाती थीं।

§ ४४. **दकनी शैली**—जिस समय इधर विंध्योत्तर भारत में महामना अकबर भारतीय संस्कृति में नई जान फूँक रहा था, उसी समय के आस पास दक्षिण की बादशाहियों में अली आदिलशाह (बीजापुर) आदि की छत्र-छाया में भी एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान हो रहा था। इसके अंतर्गत एक चित्र शैली भी थी जो वहाँ की पारंपरीण शैली का एक नया संस्करण थी (§ २५ ख १ का अन्त)। पीछे से इसपर **मुगल शैली** का भी प्रभाव पड़ा। व्यक्तियों के लंबे कद, वस्त्रों में डोरिया वा लंबी रेखाओं की प्रधानता, जिससे आकृतियों की लंबाई और भी बढ़ जाती है, वृक्षों तथा फूल-पत्तियों में नक्काशीपन, मोटी लिखाई इस **दकनी शैली** की विशेषताएँ हैं (फलक—१६)।

१९ वीं शती में अपनी उक्त विशेषताओं को रखती हुई भी यह शैली तत्कालीन **राजस्थानी** शैली के बहुत समीप हो गई थी (फलक—१७)।

नवाँ अध्याय

§ ४५. **शाहजहाँ काल (१६२८—१६५८ ई०) की मुगल शैली**—शाहजहाँ काल से **मुगल शैली** एक दूसरे ही रूप में सामने आती है। अब बादशाह का उससे कोई निजी संबंध नहीं रह जाता। वह मुगलई वैभव और तड़क-भड़क के, जो इस समय अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई थी, प्रदर्शन का एक अंग मात्र रह गई जैसा कि शाहजहां की अन्य कृतियाँ भी हैं। अब चित्रों में हद से ज्यादा रियाज, महीनकारी, अत्यधिक ब्योरे, रंगों की खूबी तथा शान-शौकत एवं अंग प्रत्यंगों, विशेषतः हस्तमुद्राओं की लिखाई में बड़ी सफाई और **कलम** में कहीं से कमजोरी न रहने पर भी दरबारी अदब-कायदों की

जकड़बंदी और शाही दबदबे के कारण, इन चित्रों में भाव का सर्वथा अभाव बल्कि एक प्रकार का सन्नाटा पाया जाता है, यहाँ तक कि जी ऊबने सा लगता है।

इस प्रकार के चित्रों से अलंकृत अपने समय के इतिहास, पादशाहनामा, की एक प्रति उसने तैयार कराई थी। इसमें कई सौ चित्र थे। यह प्रति तितर बितर हो गई। इसके अनेक चित्र भिन्न-भिन्न संग्रहों में पाए जाते हैं।

इनमें के दो भारत-कला-भवन में हैं, जिनमें से एक शाहजहाँ काल की अच्छी से अच्छी तसवीरों में है। इसका समय १६४५ ई० के कुछ बाद है। उस सन् में शाहजहाँ के दूसरे बेटे मुराद ने बलख के बादशाह नजर मोहम्मद से उसका देश जीत लिया था। इस चित्र में उस समय का दृश्य है जब नजर मोहम्मद मुराद के पास उपस्थित होता है दोनों एक दूसरे से मिल रहे हैं। इधर उधर पदाधिकारी और सरदार समुचित स्थानों में अदब के साथ खड़े हैं। चित्र में, इसके कृती फतहचंद ने बलख का **सैरा** (प्राकृतिक दृश्य) दिखाने में कमाल कर दिया हैं।

इसी प्रकार का एक चित्र श्री सीताराम साह,बनारस के संग्रह में है। उसमें शाहजहाँ कश्मीर की डल झील पार हो रहा है। झील का प्राकृतिक दृश्य सुंदर है। नावचलानेवालों में कुछ गति भी है, किन्तु शेष अंशों में वही अदब कायदा और शाही तड़क भड़क (फलक-१८)।

यदि शाहजहाँ कालीन किन्हीं चित्रों में उन्मुक्तता है तो उनमें, जिनमें बादशाह की किसी संत से भेंट चित्रित है। इनमें दरबारी जकड़बंदी और कृत्रिमता से एक क्षण के लिये छुट्टी मिल जाती है। मुगलवंश शुरू से साधुभक्त था अतएव शाहजहाँ के भी ऐसे चित्र पाए जाते हैं।

ईसाई विषयों के चित्रों में भी भाव रहते हैं; किंतु ये भाव मूल विदेशी चित्रों के हैं। ऐसा एक चित्र दिया जा रहा है (फलक—१९)। इसमें शिशु ईसा मसीह की मृदुल दिव्य छवि दर्शनीय है। कुमारी मरियम के निर्विकार हँसते हुए चेहरे पर पवित्र वात्सल्य बड़ी कुशलता से दरसाया गया है।

शाहजहाँ काल से यवन सुंदरियों के चित्र भी मिलने लगते हैं, जिनसे मुगल स्त्री-सौंदर्य का आदर्श जाना जा सकता है। अभागे दाराशिकोह ने अपनी अनुगता पत्नी नादिरा बेगम को, १६४१ ई० में एक चित्राधार उपहार दिया था, जो इस समय इंडिया आफिस, लंदन में संगृहीत है। इसमें उक्त सौंदर्य-चित्रों के तथा शाहजहाँ कालीन व्यक्ति-चित्रों आदि के एवं चित्रों के हाशियों के अच्छे उदाहरण है। रंगमहल और विलासिता के चित्र जहाँगीर काल से ही मिलने लगते हैं, यद्यपि बहुत अल्पसंख्या में। शाहजहाँ काल में उनमें पर्याप्त वृद्धि हुई। स्वभावतः औरंगजेब काल भर उनमें विराम आया, किन्तु फिर तो उनकी बाढ़ सी आ गई।

मुगल राजवंश की जीवन धारा किस ओर जा रही थी, उसके ये चित्र प्रत्यक्ष प्रतीक हैं।

विकसित **मुगल शैली** मुख्यतः **शबीह** की कला है, और यद्यपि ये शबीह बहुधा एकचश्म हैं, फिर भी अच्छी **शबीहों** में अदब कायदों की इतनी जकड़बंदी होते हुए भी चित्रकारों ने सूरत के साथ सीरत (स्वभाव) दिखाने में बहुत कुछ सफलता पाई है।

मुगल शैली के यौवन काल में रंगों के ओप, दबाजत और मलाहियत के कारण आरंभिक **मुगल** चित्रों से भी अधिक मीनापन रहता है। किंतु ये रंग कुछ बदरंग करके लगाए जाते हैं (§ ३५ ख-४, पृ० ७७, पं० २०-२१)।

मुख्यतः शाहजहाँ काल से **मुगल शैली** के कुछ बिना रँगे रेखा-चित्र भी मिलते हैं जिन्हें **स्याह-कलम** चित्र कहते हैं। इनमें कागज पर फिटकिरी मिले सरेस या अंडे की सफेदी का अस्तर दे कर, कि कागज ज्यों का त्यों दीखता रहे किंतु **लिखाई** न फूटे, बहुत सँभाल कर स्याही से बड़ी बारीक **सच्ची टिपाई** (§ ४० ङ) करते हैं और उसी (स्याही) से तैयार भी कर जाते है। दाढ़ी आदि में **एक बाल परदाज** (एक एक बाल अलग अलग दिखाना), मुलयम साया और ओठ, आँख, तथा हथेली में नाम मात्र की रंगत, कहीं पर जरा सा सोना या अन्य रंगों का इशारा, इन **स्याह-कलम** चित्रों की विशेषताएँ है। इनके मुख्य चित्रकार शाहजहाँ-कालीन मुहम्मद नासिर समरकंदी और चतुरमणि (§ ४० ङ) हैं जिनके साथ संभवतः होनहार (§ ४० ङ) का भी नाम जोड़ा जा सकता है।

§ ४६. **औरंगजेब (१६५८—१७०७ ई०) से आलमगीर सानी (१७४८—१७५६) तक की मुगल शैली**—औरंगजेब के समय से, मुगल वैभव के समस्त अंगों की तरह चित्रकला में भी ह्रास के कीड़े लग चले। शाहजादगी से लेकर बूढ़े और कुबड़े तक के उसके कितने ही ही चित्र मिलते हैं। ये चित्र बिना उसकी अनुमति के नहीं बन सकते थे; उस समय फोटोग्राफी न थी कि पल भर में चित्र ले लिए जाते। शबीह लगाना घंटों का काम था और कल्पना से उसका किया जाना असंभव था। फिर भी उसके समय में चित्रकला उपेक्षिता ही रही।

हाँ, इस कला का एक उपयोग वह अवश्य करता था। ग्वालियर के किले में उसने अपने जिन कुटुंबियों को बंद कर रखा था, उनकी यथार्थ अवस्था जानने के लिये वह हर महीने उनकी तसवीरें बनवाया करता कि पोस्त के उस प्याले का, जो प्रतिदिन उन राजबंदियों को दिया जाता था, मासिक परिणाम उसे (औरंगजेब को) मालूम होता रहे।

इस समय के भी दरबारी चित्रकार अधिकतर हिंदू थे। औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य की भाँति **मुगल** चित्रकला का इतिहास भी उसकी पड़ती का इतिहास है। यद्यपि मुहम्मदशाह के समय तक के चित्र, जहाँ तक कारीगरी का संबंध है, अपना पूर्व गौरव बहुत

कुछ बनाए रहते हैं, किंतु मुगल वंश का कोई सम्मानवर्धक इतिहास न रह जाने तथा उसके नैतिक पतन के कारण, जिसका प्रभाव सारे राष्ट्र पर पड़ा था, इन तसवीरों के विषय अब मुख्यतः राग-रंग और विलासिता से ही संबंध रखते हैं (फलक—२०)।

अब मुगल शैली से टूटकर उसकी अनेक विशेषताएँ **राजस्थानी शैली** में ले ली जाती हैं और उसके इस रूप की प्रतिक्रिया पिछली **मुगल शैली** पर होती है, जिसके कारण दोनों शैलियों में इतनी समानता आ जाती है कि किसी किसी चित्र के बारे में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह किस शैली में रखा जाय।

§ ४७. **१८वीं में राजस्थानी शैली**—अब यह शैली पूर्ण विकसित हो चुकी है। यद्यपि आलंकारिता इसकी मुख्य विशेषता है, यहाँ तक की **शबीह** की आकृतियों में भी आँख आदि में अत्युक्ति रहती है; तो भी, **मुगल-कला** के संसर्ग से कभी कभी इस विशेषता में शिथिलता पायी जाती है। रागमाला, बारहमासा मुख्यतः केशव और बिहारी पर आधृत नायिकाभेद और कृष्णलीला इसके मुख्य विषय रहते हैं एवं अनेक सचित्र ग्रंथ भी बनते हैं। इस काल में मेवाड़ **राजस्थानी शैली** का महत्वपूर्ण केन्द्र था जहाँ के बने चित्रों में विशेषता पाई जाती है। इन चित्रों में तेज वर्णिका और गति पाई जाती है जिनका अकबर शैली के बाद मुगल चित्रों में प्रायः सर्वथा अभाव है। **राजस्थानी शैली** में जितनी उन्मुक्तता है, उतनी **बसौली** को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं। **बसौली** में भी वह राजस्थानी प्रभाव से ही है। मेवाड़ शैली की कई बहुत बड़ी चित्रमालायें प्राप्त हैं जो अकबर शैली के सिवा अन्यत्र नहीं दीखतीं। इनमें कृष्णलीला संबंधी एक चित्रमाला साधारण से बड़े आकार में है और उनका चित्रण भी अत्यन्त असाधारण है।

सूर सागर पर आश्रित संभवतः मात्र एक चित्रमाला भी इसी शैली में है। इस काल वाले मेवाड़ शैली के चित्रों में **चेहरई** पर **स्याही** से **साया** लगाया जाता था।

इस काल में बूँदी मंडल भी राजस्थानी शैली का मुख्य केन्द्र था। इन चित्रों की वर्णिका बहुत आकर्षक होती। चित्रण में लाक्षणिक प्रयोग इनकी दूसरी विशेषता है। पानी, बादलों और पशुपक्षियों के अंकन में स्वभाव निरीक्षण पर अलंकारिकता दीखती है। इनके चेहरे गोल होते हैं और चेहरई अतिरिक्त लाल होती है। गतिमत्ता तो इनकी अपनी विशेषता है (फलक २१)। फलक ★ ३ उन **राजस्थानी** चित्रों में से है जिनमें आलंकारिता के बदले स्फूर्ति और स्वाभाविकता मिलती है। मस्त हाथी सिकड़ तुड़ा कर भागा है। महावत बेबस हो गया है। आगे साँड़नीसवार, घुड़सवार और प्यादे उसे रोकने को व्यर्थ दौड़ रहे हैं। चित्र के वर्ण विधान में भी परिवर्त्तन दीख पड़ता है- अब राजस्थानी चित्रों में अपेक्षाकृत सूफियाने रंग लगने लगे थे।

इस समय इस शैली का एक मुख्य केंद्र जयपुर था। वहाँ के इस काल के रास-मंडल और गोवर्धन-धारण के चित्र बड़े सुंदर और सजीव हैं। जोधपुर, किशनगढ़, कोटा-बूंदी और नाथद्वारा में भी अच्छा काम बनता था। इनमें प्रत्येक में निजी शैली गत विशेषताएँ हैं। जिनके अंतर्गत असंख्य उप शैलियाँ हैं। इनमें से बहुतों की पहचान पाग की विभिन्नताओं से होती है। भित्तिचित्र तथा पटचित्र की परंपरा भी चल रही थी।

दतिया के राजा शत्रुजीत (१७६१-१८०१ ई०) के समय में **बुंदेलखंडी कलम** अपनी पूर्णता को पहुँच गई। उस समय देव के अष्टयाम, बिहारी सतसई और मतिराम के रसराज की पूरी चित्रावली तथा शबीह और धार्मिक चित्र बहुत बड़ी संख्या में तैयार हुए। इनका रंगविधान सपाट और आलेखन बिल्कुल भावरहित है; पात्र पुतले से खड़े रहते हैं। हाँ, इनके स्त्री मुख मंडलों की तराश सुंदर है और आँखें रसीली।

पेशवाई के कारण महाराष्ट्र में भी **राजस्थानी शैली** की पहुँच हुई। मराठा चित्रों पर, जो ब्रिटिश संग्रहालय में तथा अन्यत्र संगृहीत हैं, जयपुर की पूरी छाप है। बाजीराव पेशवा (१७७४-१७९१ ई०) ने पूना के अपने शनिवारवाड़ा वाले प्रसाद को चित्रित कराने के लिये जयपुर से भोजराज चित्रकार को बुलाया था।

दक्षिण भारत में यह शैली मैसूर, तांजोर और रामेश्वर तक फैली थी। वहाँ के चित्रों में इसके साथ उत्तर-मध्यकालीन प्रभाव भी मिलता है जो भित्ति चित्रों के कारण, उधर आज भी चला आता है।

§ ४८. **बसौली वा जम्मू शैली**—पंजाब में **राजस्थानी शैली** का एक केंद्र जम्मू वा उसके निकटवर्ती बसौली में था। यहाँ का आलेखन १७वीं शती के **राजस्थानी** चित्रों के बहुत निकट है। जहाँगीर कालीन **मुगल शैली** का राजस्थानी शैली पर प्रभाव पड़ा। उससे पुष्ट होकर राजस्थानी शैली सारे देश में व्याप गई। इधर स्वयं **राजस्थानी शैली** तो समय पाकर बदलती गई पर **बसौली** के चित्रकार आज से एक डेढ़ शती पूर्व भी उस जहाँगीरी परम्परा का निर्वाह करते गए जो उनके कृतियों से स्पष्ट झलकता है।

इसी भाँति यद्यपि नेपाल में **पाल शैली** की परम्परा चली आ रही थी और आज तक चली आ रही है किन्तु वहाँ चित्रों, चित्रपटों और पुस्तक चित्रों में भी १८वीं शती से, **राजस्थानी शैली** का अनेक अंशों में प्रभाव पाया जाता है। इस प्रकार **राजस्थानी शैली** ही उस काल की हमारी राष्ट्र शैली थी।

इन चित्रों का विषय मुख्यतः रागमाला, गीतगोविंद, भागवत, रामायण, भारत एवं नायिका-भेद है। बुंदेलखंडी चित्रों की भाँति सपाट किंतु उससे तेज रंग, बड़े बड़े मीन-नेत्र जिनमें छोटी-छोटी पुतलियाँ, पीछे जाता हुआ वा ऊपर को ढालुवां ललाट, रूखी किंतु ओजदार

लिखाई, कतरकर चिपकाए सोन-किरवा (स्वर्ण-कीट. पंजाब में इसे सोना-माखी कहते हैं) के पंख द्वारा गहने के हरे नगीनों का अंकन, सपाट **पृष्ठिका** के बिलकुल ऊपरी हिस्से में क्षितिज रेखा एवं उसके कारण एक पतली धज्जी-जैसा आकाश का आलेखन, इस शैली की विशेषताएँ हैं। साथ साथ मुकुट, दुपट्टे की फहरान एवं वास्तु आदि में **कश्मीरी** प्रभाव भी पाया जाता है। चित्रों पर टाकरी लिपि में और कभी-कभी देवनागरी में लेख रहते हैं।

१८वीं शती का मध्यार्ध इस शैली का उत्कर्ष काल है, जिसके मुख्य उदाहरणों में से १६३० ई० की मानकू चित्रकार की बनाई, गीतगोविंद चित्रावली है जो संप्रति लाहौर संग्रहालय में है। मानकू को स्त्री मानना भूल है, क्योंकि पंजाबी और हिंदी में ऊकारांत नाम पुरुषों के होते हैं, स्त्रियों के नहीं; स्त्रियों के नाम ओकारान्त होते हैं।

१८वीं शती के समाप्त होते होते यह शैली निर्जीव हो जाती है।

§ ४६. **पहाड़ी शैली**—१५वीं शती से जिस पुनरुत्थान का आरंभ हुआ उसकी उत्तरोत्तर प्रगति होती गई और आज दिन तक होती जा रही है। १६वीं शती से हम अपने अतीत से संबंध जोड़ने लग गए, जिस प्रवृत्ति को हम हर्ष के बाद से क्रमशः भूल गए थे। यद्यपि उस संबंध की महाभारत के बादवाली कड़ियाँ बहुत इधर तक अंधकार में थीं, फिर भी हमने भिन्न भिन्न भाषाओं में रामचरित लिखे, भागवत एवं महाभारत की अवतारणा की। शिवाजी ने प्राचीन शासन-विधान उज्जीवित किया, यद्यपि वह बहुत अधूरा था था क्योंकि जिस सामग्री के आधार पर उसका निर्माण हुआ था वह बहुत ही सीमित थी। जयसिंह ने प्राचीन पद्धति पर नगर बसाया, अश्वमेध किया, वेधशालाएँ बनाईं और उपजातियों को तोड़कर मूल चातुर्वर्ण्य कायम करने का उद्योग किया।

जिस प्रकार आचार्य केशव ने रामचंद्रिका द्वारा आदर्श राजा की प्राचीन अष्टयामचर्या का निदर्शन कराया उसी प्रकार कवि-प्रिया और रसिक-प्रिया द्वारा प्राचीन रीति-साहित्य से संबंध जोड़ा—जिससे हिंदी की रीति-कविता चल पड़ी और मतिराम, देव, बिहारी जैसे कवि-प्रवरों की वाणी प्रस्फुटित हुई।

उधर १७वीं शती में औरंगजेब की उपेक्षा के कारण और १८वीं शती के मध्यार्ध तक मुगल साम्राज्य के टूक टूक हो जाने के कारण, बादशाही चित्रकार नए आश्रय खोजने पर बाध्य हुए। संभवतः उनमें से कुछ, रावी से पूर्ववाली काँगड़ा, दून की रियासतों—चंबा, नूरपुर, गुलेर, कोट-काँगड़ा, सुकेत, मंडी, कुल्लू एवं नाहन, सिरमौर आदि में पहुँचे। उन्हीं के हाथों १८वीं शती में **पहाड़ी शैली** का तरुवर रोपा गया (§ ३०)। अकबर के बाद से उनकी प्रतिभा शाही रुचि के बंधन में जकड़ गई थी। अब उसने मुक्ति पाई और उन्हें 'हुकुम पाइ' के बदले 'स्वांतस्सुखाय' रचना का अवसर मिला। यद्यपि यह काम भी वे आज्ञा से करते थे,

किंतु इसमें उस वस्तु की अभिव्यक्ति का सुयोग प्राप्त था जो उन्हें रमणीय था। अर्थात्, उन्होंने चित्रों द्वारा प्राचीन से संबंध-स्थापन का भार लिया।

काँगड़ा दून **कश्मीर शैली** के क्षेत्र में था। तिब्बत से भी वहाँ का संबंध था। अब **मुगल** चित्रकारों ने **कश्मीर शैली** से नाता जोड़, अपनी गुरुदक्षिणा ही नहीं चुकाई, अपितु उसमें नई जान फूँक दी। यही **पहाड़ी शैली** है। तिब्बत का प्रभाव भी इसमें कहीं, कभी पाया जाता है। किंतु इसका **कैँड़ा, वर्णिका,** आदि विधान विकसित **मुगल शैली** पर ही अवलंबित है जिसमें गति और अभिव्यक्ति **कश्मीर शैली** की है। इनके अतिरिक्त भावभंगी, मुद्राओं, कृष्ण के असित वर्ण, वस्त्रों का फहरान, मुकुट आदि अनेक ब्योरों में भी **कश्मीर शैली** बोला करती है। कितने ही **पहाड़ी** चित्रों में तो मुख्यांश **कश्मीर** का ही मिलता है, अतएव इस शैली की परंपरा उसी से सिद्ध होती है। यदि यह शैली स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई होती तो इसकी आरंभिक अवस्था के चित्र भी मिलते। किंतु ऐसे **पहाड़ी** चित्र हुई नहीं जिनमें आरंभिकता हो। अर्थात् वे **कश्मीर शैली** के रूपांतर में ही एक दम से रंग-मंच पर आ जाते हैं। इसका समर्थन रामप्रसादजी की कुलगत अनुश्रुति से भी होता है, जो **पहाड़ी** चित्रों को **कश्मीर की कलम** के अंतर्गत गिनती है।

ऐसी अवस्था में--साथ ही इन बड़े अंतरों के कारण भी कि **राजस्थानी शैली** मुख्यतः आलंकारिक कला है और यह भावमूलक या रागात्मक; **राजस्थानी** चित्रों के विषय का मेरुदंड रागमाला है, इसमें (इसकी सहृदयता के अनुरूप) उसका प्रायः अत्यंताभाव है एवं दोनों के उत्पत्ति काल में भी प्रायः तीन सौ वर्ष का अन्तर है—ये दोनों शैलियाँ किसी प्रकार 'राजपूत' नामक एक बड़े वर्ग के भीतर नहीं आ सकतीं (§ ३०)।

पहाड़ी चित्र शबाहत लिये हुए ख्याली होते हैं अर्थात् उनमें वास्तविकता और भावना का संमिश्रण रहता है। इस मिश्रण द्वारा इसके उस्तादों ने अपने चित्रण में बड़ी सजीवता और रमणीयता उत्पन्न की है। ऐसा कोई रस वा भाव नहीं है, जिसका पूर्ण सफल अंकन ये कलाकार न कर सके हों। उनका आलेखन आवश्यकतानुसार 'वज्रादपि कठोर' वा 'कुसुमादपि मृदु' होता है। उनकी सहानुभूति अत्यंत विस्तीर्ण तथा व्यापक है, उनकी प्रत्येक रेखा में प्राण, स्पंदन और प्रवाह रहता है एवं वह एक अर्थ रखती है, भले ही वह छोटी से छोटी क्यों न हो।

देवताओं के ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गा-सप्तशती इत्यादि, इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य; ऐतिहासिक गाथा; लोक-गाथा; केशव, मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि हिंदी के प्रमुख एवं अन्य अवांतर कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नहीं जिसे उन्होंने छोड़ा हो। कोई भी 'वस्तु' अंकित करना इन चित्रकारों के लिये असंभव था ही नहीं। न वे उसके एक दो चित्र बनाकर ही संतुष्ट हो गए।

लिखाई, कतरकर चिपकाए सोन-किरवा (स्वर्ण-कीट, पंजाब में इसे सोना-माखी कहते हैं) के पंख द्वारा गहने के हरे नगीनों का अंकन, सपाट **पृष्ठिका** के बिलकुल ऊपरी हिस्से में क्षितिज रेखा एवं उसके कारण एक पतली धज्जी-जैसा आकाश का आलेखन, इस शैली की विशेषताएँ हैं। साथ साथ मुकुट, दुपट्टे की फहरान एवं वास्तु आदि में **कश्मीरी** प्रभाव भी पाया जाता है। चित्रों पर टाकरी लिपि में और कभी-कभी देवनागरी में लेख रहते हैं।

१८वीं शती का मध्यार्ध इस शैली का उत्कर्ष काल है, जिसके मुख्य उदाहरणों में से १६३० ई० की मानकू चित्रकार की बनाई, गीतगोविंद चित्रावली है जो संप्रति लाहौर संग्रहालय में है। मानकू को स्त्री मानना भूल है, क्योंकि पंजाबी और हिंदी में ऊकारांत नाम पुरुषों के होते हैं, स्त्रियों के नहीं; स्त्रियों के नाम ओकारान्त होते हैं।

१८वीं शती के समाप्त होते होते यह शैली निर्जीव हो जाती है।

§ ४६. **पहाड़ी शैली**—१६वीं शती से जिस पुनरुत्थान का आरंभ हुआ उसकी उत्तरोत्तर प्रगति होती गई और आज दिन तक होती जा रही है। १६वीं शती से हम अपने अतीत से संबंध जोड़ने लग गए, जिस प्रवृत्ति को हम हर्ष के बाद से क्रमशः भूल गए थे। यद्यपि उस संबंध की महाभारत के बादवाली कड़ियाँ बहुत इधर तक अंधकार में थीं, फिर भी हमने भिन्न भिन्न भाषाओं में रामचरित लिखे, भागवत एवं महाभारत की अवतारणा की। शिवाजी ने प्राचीन शासन-विधान उज्जीवित किया, यद्यपि वह बहुत अधूरा था था क्योंकि जिस सामग्री के आधार पर उसका निर्माण हुआ था वह बहुत ही सीमित थी। जयसिंह ने प्राचीन पद्धति पर नगर बसाया, अश्वमेध किया, वेधशालाएँ बनाईं और उपजातियों को तोड़कर मूल चातुर्वर्ण्य कायम करने का उद्योग किया।

जिस प्रकार आचार्य केशव ने रामचंद्रिका द्वारा आदर्श राजा की प्राचीन अष्टयामचर्या का निदर्शन कराया उसी प्रकार कवि-प्रिया और रसिक-प्रिया द्वारा प्राचीन रीति-साहित्य से संबंध जोड़ा—जिससे हिंदी की रीति-कविता चल पड़ी और मतिराम, देव, बिहारी जैसे कवि-प्रवरों की वाणी प्रस्फुटित हुई।

उधर १७वीं शती में औरंगजेब की उपेक्षा के कारण और १८वीं शती के मध्यार्ध तक मुगल साम्राज्य के टूक टूक हो जाने के कारण, बादशाही चित्रकार नए आश्रय खोजने पर बाध्य हुए। संभवतः उनमें से कुछ, रावी से पूर्ववाली काँगड़ा, दून की रियासतों—चंबा, नूरपुर, गुलेर, कोट-काँगड़ा, सुकेत, मंडी, कुल्लू एवं नाहन, सिरमौर आदि में पहुँचे। उन्हीं के हाथों १८वीं शती में **पहाड़ी शैली** का तरुवर रोपा गया (§ ३०)। अकबर के बाद से उनकी प्रतिभा शाही रुचि के बंधन में जकड़ गई थी। अब उसने मुक्ति पाई और उन्हें 'हुकुम पाइ' के बदले 'स्वांतस्सुखाय' रचना का अवसर मिला। यद्यपि यह काम भी वे आज्ञा से करते थे,

किंतु इसमें उस वस्तु की अभिव्यक्ति का सुयोग प्राप्त था जो उन्हें रमणीय था। अर्थात्, उन्होंने चित्रों द्वारा प्राचीन से संबंध-स्थापन का भार लिया।

काँगड़ा दून **कश्मीर शैली** के क्षेत्र में था। तिब्बत से भी वहाँ का संबंध था। अब **मुगल** चित्रकारों ने **कश्मीर शैली** से नाता जोड़, अपनी गुरुदक्षिणा ही नहीं चुकाई, अपितु उसमें नई जान फूँक दी। यही **पहाड़ी शैली** है। तिब्बत का प्रभाव भी इसमें कहीं, कभी पाया जाता है। किंतु इसका **कैँड़ा, वर्णिका,** आदि विधान विकसित **मुगल शैली** पर ही अवलंबित है जिसमें गति और अभिव्यक्ति **कश्मीर शैली** की है। इनके अतिरिक्त भावभंगी, मुद्राओं, कृष्ण के असित वर्ण, वस्त्रों का फहरान, मुकुट आदि अनेक ब्योरों में भी **कश्मीर शैली** बोला करती है। कितने ही **पहाड़ी** चित्रों में तो मुख्यांश **कश्मीर** का ही मिलता है, अतएव इस शैली की परंपरा उसी से सिद्ध होती है। यदि यह शैली स्वतंत्र रूप से विकसित हुई होती तो इसकी आरंभिक अवस्था के चित्र भी मिलते। किंतु ऐसे **पहाड़ी** चित्र हुई नहीं जिनमें आरंभिकता हो। अर्थात् वे **कश्मीर शैली** के रूपांतर में ही एक दम से रंग-मंच पर आ जाते हैं। इसका समर्थन रामप्रसादजी की कुलगत अनुश्रुति से भी होता है, जो **पहाड़ी** चित्रों को **कश्मीर की कलम** के अंतर्गत गिनती है।

ऐसी अवस्था में—साथ ही इन बड़े अंतरों के कारण भी कि **राजस्थानी शैली** मुख्यतः आलंकारिक कला है और यह भावमूलक या रागात्मक; **राजस्थानी** चित्रों के विषय का मेरुदंड रागमाला है, इसमें (इसकी सहृदयता के अनुरूप) उसका प्रायः अत्यंताभाव है एवं दोनों के उत्पत्ति काल में भी प्रायः तीन सौ वर्ष का अन्तर है—ये दोनों शैलियाँ किसी प्रकार 'राजपूत' नामक एक बड़े वर्ग के भीतर नहीं आ सकतीं (§ ३०)।

पहाड़ी चित्र शबाहत लिये हुए ख्याली होते हैं अर्थात् उनमें वास्तविकता और भावना का सम्मिश्रण रहता है। इस मिश्रण द्वारा इसके उस्तादों ने अपने चित्रण में बड़ी सजीवता और रमणीयता उत्पन्न की है। ऐसा कोई रस वा भाव नहीं है, जिसका पूर्ण सफल अंकन ये कलाकार न कर सके हों। उनका आलेखन आवश्यकतानुसार 'वज्रादपि कठोर' वा 'कुसुमादपि मृदु' होता है। उनकी सहानुभूति अत्यंत विस्तीर्ण तथा व्यापक है, उनकी प्रत्येक रेखा में प्राण, स्पंदन और प्रवाह रहता है एवं वह एक अर्थ रखती है, भले ही वह छोटी से छोटी क्यों न हो।

देवताओं के ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गा-सप्तशती इत्यादि, इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य; ऐतिहासिक गाथा; लोक-गाथा; केशव, मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि हिंदी के प्रमुख एवं अन्य अवांतर कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नहीं जिसे उन्होंने छोड़ा हो। कोई भी 'वस्तु' अंकित करना इन चित्रकारों के लिये असंभव था ही नहीं। न वे उसके एक दो चित्र बनाकर ही संतुष्ट हो गए।

उन्होंने जो विषय उठाया उसकी मालिका की मालिका बना डाली, सो भी ऐसी लोकोत्तर कि देखकर दाँतों अँगुली दबानी पड़ती है। मौलिकता इन कृतियों में इतनी है कि आप यह न कह सकेंगे कि वे साहित्यिक रचना पर अवलंबित हैं। इन विशेषताओं के कारण यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अजंता युग के बाद **पहाड़ी शैली** में ही भारतीय कला एक ऐसी ऊँचान तक उठी है जहाँ तक पहुँचना खिलवाड़ नहीं। किंतु **एकचश्म** चेहरे के सिवा अन्य रुखों के चेहरे की **लिखाई** में यह कला असफल रही।

काँगड़ा के राजा संसारचंद्र (१७७४-१८२३ ई०) तक का समय **पहाड़ी** कला का स्वर्ण-युग है। १८२८ ई० में इन्हीं संसारचंद्र की दो कन्याएँ गढ़वाल नरेश से ब्याही गईं। इसी सिलसिले में काँगड़े के चित्र और चित्रकार भी दहेज में यहाँ आए। इसी समय से गढ़वाल में भी **पहाड़ी शैली** प्रतिष्ठित हुई। वहाँ के मोलाराम चित्रकार का नाम आजकल प्रायः सुन पड़ता है। किंतु जो चित्र मोलाराम पर आरोपित किए जाते हैं उनके निजस्वों में इतनी विभिन्नताएँ हैं कि वे एक चित्रकार के नहीं हो सकते। गढ़वाल में जो चित्र दहेज में आए उनमें गीतगोविंद और बिहारी चित्रावली बड़ी ही सुचारु और सुकोमल हैं।

सिख-उत्कर्ष-काल (१७९०-१८४३ ई०) में **पहाड़ी शैली** का एक केंद्र लाहौर, अमृतसर में भी रहा, जहाँ इस कलम की, विशिष्ट सिख व्यक्तियों की अच्छी शबीह तैयार की गईं।

प्रायः १८५० ई० से, अर्थात् पंजाब की स्वाधीनता के अंत के साथ ही, इस शैली का अंत समझना चाहिए। यों तो **पहाड़ी कलम** के कारीगर अभी तक पाए जाते हैं। **पहाड़ी** भित्तिचित्र भी बराबर बनते थे। इस शैली के इतिहास के लिये इनका अध्ययन आवश्यक है। पर अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

पहाड़ी शैली के उत्कर्ष में **कश्मीर शैली** का स्वातंत्र्य विलीन हो गया और वह धार्मिक ग्रंथों के भद्दे चित्रों के रूप में कुछ दिनों तक साँस भरती हुई समाप्त हो गई।

पहाड़ी शैली के कोमल अंकन के लिये मुख-चित्र देखिए। पुरवय्या काली घटा को उड़ा लाई है, पानी आया ही चाहता है। यह प्रफुल्ल-वदना सुंदरी अटारी से घर के भीतर भाग रही है। पवन से उसके वस्त्र उड़ रहे हैं। बड़ी सुंदर कल्पना है। **पहाड़ी शैली** स्त्री-सौंदर्य का एक बड़ा चारु आदर्श निर्माण करने में शक्य हुई है।

उदात्त आलेखन का नमूना फलक २२ है। किस ओज से किशोर कृष्ण ने दुर्दांत कालिय को दबा रखा है और वे अनायास उस पर नाच रहे हैं। नृत्य में गति है। उनके पैरों से दबकर कालिय पिसा जा रहा है। नाग बालाएँ उसकी प्राण भिक्षा माँग रही हैं और तट पर की घटना की भीषणता से त्रस्त और कालिय के विष से प्रभावित ग्वाल वृन्द तथा गायें मूर्च्छित पड़े हैं।



आया पानी !

१८वीं–१९वीं शती; पहाड़ी शैली

कृष्णलीला में गीतिकाव्यात्मक दृश्य भी दीखते हैं; उनमें ग्रामजीवन का भी सरस चित्रण हुआ है।

पहाड़ी शैली का चित्रकार शिवभक्त है और उसने शिव के सभी रूपों का—शंकर, विरूपाक्ष, नटराज, गंगाधर आदि अनेक रूपों का—सफलता पूर्वक चित्रण किया है। इसमें शिव के विभिन्न रूपों का मार्मिक चित्रण हुआ है (फलक २३)। शिव के गणों का—राक्षसों की भाँति—विचित्रतापूर्ण चित्रण इन चित्रकारों की अद्भुत कल्पना शक्ति का परिचय देता है।

फलक २४• पहाड़ी चित्रकारों के व्यापक• दृष्टिकोण का अच्छा उदाहरण है। सांसारिकता से दूर शांति के साम्राज्य का देखिये।

§ ५०. **शाहआलम कालीन और उसके बाद के मुगल चित्र**—जो कुछ मुगल शान बच रही थी उसका भी अंत आलमगीर सानी के साथ हो गया। पानीपत का संग्राम इस महानाटक की समाप्ति का पटाक्षेप था। सानी का उत्तराधिकारी शाहआलम केवल नाम के अधिकारों को हस्तांतरित करने के लिये गद्दी पर बैठा था। फलतः उसकी कोई जिम्मेदारी न रह गई थी। उसका राज्यकाल भी बहुत लंबा हुआ (१७५९—१८०६ ई०)। इस शांति रूपी निर्जीवता के समय का, दिल्ली के घरानेदार चित्रकारों ने एक उपयोग किया। नादिर, अब्दाली, सूरजमल जाट, मराठों, रुहेलों और सिखों की लूटों से दिल्ली का खजाना खाली हो गया था। उसके चित्र-रत्न भी कहाँ के कहाँ हो गए थे। इन चित्रकारों के पास उनके **चरबे** (झिल्ली पर उतारे हुए खाके, ट्रेसिंग) चले आ रहे थे, जिनके सहारे इन्होंने अनेक प्राचीन चित्रों की प्रतिकृतियाँ तैयार कर डालीं।

ऐसे चित्रों की विशेषताएँ ये हैं—इसमें स्याही के साये का अत्यधिक प्रयोग रहता है; यहाँ तक कि चेहरों के मलपट काले से हो जाते हैं। **परदाज** की भरमार रहती है। **चेहरई** प्रायः पीली वा नारंगी **झलक** (टोन) की होती है। **सवा-चश्म**, **डेढ़-चश्म** चेहरों में नाक का टोंक ऊपर को उठा रहता है। आँखें चुंधी (चेहरे के अनुपात में बहुत छोटी) तथा हाथ पाँव की **लिखाई** बड़ी कमजोर रहती है। अकसर कद भी नाटे होते हैं।

ऐसे चित्रों के संबंध में आजकल के कलाकोविद बड़ा धोखा खा रहे हैं और इन्हें मूल प्रतियाँ समझ रहे हैं। जालसाजी की भी ऐसी ही गई है; चित्रों पर शाही मुहर तक लगी हैं। संभव है कि ये शाहआलम के लिये भी बनाए गए हों। इस प्रकार का एक मुरक्का साउथ केंसिंग्टन संग्रहालय में है जिसका नाम वैंटेज बिक्वेस्ट है। इसमें के चित्रों पर जहाँगीर की मुहर है। बीच-बीच में एकाध असली चित्र भी हैं। इसी तरह का एक साहसपूर्ण जाल अलवर-राज्य पुस्तकालय में है। यह बाबरनामे की सचित्र फारसी प्रति है, जिस पर लिपिकार का नाम मीरअली दिया है और लिखा है कि इसे हुमायूँ ने तैयार करा के बाबर को, उसके अंतिम

वर्ष में भेंट किया था। सोचने की बात है कि मीरअली हुमायूँ के पहले मर चुका था और बाबरनामे का फ़ारसी अनुवाद हुमायूँ के देहांत के तैंतीस बरस बाद खानखाना ने, अकबर के लिये किया था (§ ३५ ख ३)। अब इस जाली प्रति के चित्रों से वें टेज विक्टोरिया के चित्रों को मिलाइए और अपनी आँखों से उसका जाल पहचान कर असंदिग्ध हो जाइए।

इस समय मुर्शिदाबाद, लखनऊ और हैदराबाद में, जो मुगल साम्राज्य के सूत्रों से स्वतंत्र राज्य बन गए थे, पिछली **मुगल शैली** के केंद्र स्थापित हो चुके थे, किंतु इनमें कोई विशेषता नहीं आई और इनका अंत हो गया।

मुगल शैली के चित्रों की निर्जीव नकल करनेवाले कुछ कारीगर अब भी दिल्ली में हैं। किंतु शैली के रूप में इसका जीवन अधिक से अधिक १८६० ई० तक माना जा सकता है।

§ ५१. **कंपनी शैली (तथाकथित पटना शैली)**—यूरपवाले यहाँ हाथी-दाँत की तथा उसी विधान वाली कागद पर की चित्रकारी ले आए एवं उन्होंने उसके कारीगर भी तैयार किए। इस शैली को पटना शैली कहते हैं क्योंकि वहाँ इसके कई मुख्य घराने थे। पर यह इसका उचित नामकरण नहीं। इस शैली का प्रभाव बंगाल से पंजाब तक उत्तरी भारत तथा दक्षिण में महाराष्ट्र तथा पश्चिमी घाट तक था। पश्चिम में सिंध तक इस शैली के चित्र पाए गए हैं। नेपाल तक में भी इस शैली का प्रचार था। न तो इस शैली का उद्गम ही पटने से हुआ और न वह इसका कोई महत्त्वपूर्ण केंद्र ही था। पटना शैली कुछ विलायती विद्वानों का २०वीं शती में दिया नाम है, जिसे उन्होंने केवल इस आधार पर रख दिया कि इस शैली के आधुनिक आचार्य पटने के हैं। वस्तुतः यह एक देशव्यापी लहर थी जो तत्कालीन मुगल और यूरोपीय शैलियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई। इसका प्रभाव भी 'कंपनी' के फिरंगियों के साथ साथ बढ़ा। अतः इसका समुचित नाम पटना शैली न होकर **कंपनी शैली** होना चाहिए।

इस शैली में शबीह की प्रमुखता है। इसके आलेखन में पूरा **साया** और **उजाला** अर्थात् पूरा **डौल** रहता है, जिसके लिये **परदाज** का उपयोग अधिकता से किया जाता है। इसके चेहरे प्रायः **डेढ़-चश्म** रहते हैं। यहाँ के कारीगरों ने इस योरपीय विधान के संग महीनकारी भी मिला दी है; यही इस शैली की योरोपीय कला से मुख्य पृथक्ता है। १८वीं शती के उत्तरार्ध से **मुगल शैली** के नष्टप्राय हो जाने पर इस शैली का प्रचार हुआ। इसके मुख्य केंद्र लाहौर, दिल्ली, लखनऊ, बनारस, मुर्शिदाबाद, नेपाल एवं पूना, सतारा तांजोर आदि थे।

विदेशी लोग इस शैली का एक यह उपयोग करते कि अपने देश के लिये यहाँ के पेशे, खाने, वेश और रहन-सहन के चित्र बनवाकर ले जाते। ऐसे सेट को **फिरका** कहते हैं। आजकल के चित्र-पोस्टकार्डों की तरह **पटना शैली** के कारीगर **फिरके** के सेट तैयार रखते थे।

§ ५२. **बनारस राज्य में कंपनी शैली**—बनारस के महाराज ईश्वरीनारायण

सिंह (१८३५—१८८९ ई०) का विशिष्ट व्यक्तित्व था । दिल्ली, लखनऊ आदि के कितने ही गुणी, गायक उनके समाश्रित थे । हिंदी के दोनों आदिम स्तंभ, भारतेंदुजी तथा राजा शिव-प्रसाद उनके दरबारी थे । भारतेंदुजी को तो वे घर के लड़के जैसा मानते थे और उनको बहुत सहते थे । महाराज रामचरितमानस के बड़े भक्त ही नहीं, मर्मज्ञ पंडित भी थे । देव (काष्ठ-जिह्व) स्वामी जो उद्भट विद्वान्, पहुँचे हुए महात्मा तथा ऊँचे दर्जे के कवि थे, उनके गुरु थे और उन्हीं के यहाँ निवास भी करते थे ।

महाराज के० समाज में, **कंपनी शैली** के दो उत्कृष्ट चित्रकार भी थे—लालचंद और उनके भतीजे गोपालचंद । काशी में दल्लूलाल इस शैली के उस्ताद थे । उन्हीं से उक्त चित्रकारों ने यह कला प्राप्त की थी । इन दोनों चित्रकारों से महाराज ने इतने चित्र बनवाए कि उनको हम **कंपनी शैली** का जहाँगीर कह सकते हैं । इस चित्रावली में महाराज के इष्ट-मित्र, दरबारी, गुणी, कलावँत, राज-समाज एवं परिकर से लेकर पालतू पशु-पक्षी, रंगबिरंगे जंगली पखेरू तथा फूल फल तक की बढ़ियाँ से बढ़ियाँ शबीह हैं । **कंपनी शैली** की शबीह तैयार करने में उक्त दोनों चित्रकारों का स्थान ऊँचा है । सौभाग्यवश उनके विषय में जानकारी भी प्राप्त है ।

चित्रकला और उसके इतिहास की दृष्टि से तो यह चित्रावली महत्त्व की है ही, सांस्कृतिक इतिहास के लिये भी गुणियों के चित्र एवं उस समय की वेश-भूषा आदि का बड़ा मसाला इसमें निहित है । इसमें हिंदी-प्रेमियों के आकर्षण के भी तीन चार चित्र हैं । भारतेंदुजी एक बार महाराज के लिये कई प्रकार के गुलदाऊदी के फूल ले गये थे; राजा शिवप्रसाद ने महाराज के लिये आम भेजे थे; उनके तथा देव (काष्ठ जिह्व) स्वामी की जीवितावस्था के समाधिस्थ होने पर के चित्र भी इस चित्रावली में हैं ।

आरा निवासी एवं कलकत्ता प्रवासी उस्ताद ईश्वरीप्रसाद **कंपनी शैली** के वर्तमान प्रतिनिधि हैं । सम्भवतः उनका कुल उक्त उस्ताद दल्लूलाल के कुल से संबंधित था ।

§ ५३. **उस्ताद रामप्रसाद**—१८वीं शती में कुछ मुगल शाहजादे बनारस में नजरबंद किए गए । उन्हीं के लवाजमे में चित्रकार भी थे, जिनमें के उस्ताद लालजीमल्ल से काशी के सिक्खी नामक ग्वाल ने **मुगल शैली** की चित्रकला पाई । उस्ताद रामप्रसाद उन्हीं सिक्खी के प्रपौत्र हैं ।

यदि आपने काशी की गलियों में साठ बासठ बरस के एक कृश स्थविर को, किसी धुन में तेजी चलते जाते देखा है, जिसकी आँखें खुड़राई हुई हैं, पकी हजामत बढ़ रही है, बड़ी मूँछें बिना सँवारी हुई है, सिर पर मैली मुड़ी मुड़ी गांधी टोपी है और कटि में उससे भी मैली धोती, किंतु तन पर एक बढ़िया दुपट्टा पड़ा हुआ है, पैर में जूता हो या न हो—तो जान

लीजिए कि आप **मुगल शैली** के एकमात्र अवशिष्ट, उस्ताद रामप्रसादजी के दर्शन कर चुके हैं।[१]

आपकी प्रकृति बड़ी साधु है और विचारों का दृष्टिकोण दार्शनिक एवं कलात्मक, अर्थात् तात्त्विक; क्योंकि किसी वस्तु का वास्तविक अनुभव करना उसके सौंदर्य का अनुभव करना है, इसी कारण दार्शनिक और कलाकार दोनों ही विचारों में तात्त्विक एकतानता होती है। आपकी उक्तियाँ बड़ी ही चुस्त, मार्मिक और सटीक (निशाने पर बैठनेवाली) होती हैं। भगवान् ने जैसा रस हाथ में दिया है वैसा ही कंठ और तबीयत में भी। आप स्वभाव से कृती और कलाकार हैं। किंतु, समय के फेर से आपको एक दरिद्र शिल्पी का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है।

मुगल शैली के तो आप एकमात्र प्रतिनिधि एवं ज्ञान-भंडार हैं ही, आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी भी है। आपकी मौलिक रचना का एक सुंदर नमूना शिव-तांडव का चित्र है (फलक—२५)। नटराज के प्रशांत मुख मंडल पर तन्मयता और भाव-मग्नता का आत्यंतिक सुख खूब दिखाया है। शिव-चित्रण आपका प्रिय विषय है। आपके उमरखय्याम-चित्रों को डा० कुमारस्वामी ने, यूरप के प्रसिद्ध चित्रकार ब्यूलेक के चित्रों से विशिष्ट माना है। प्रकृति-तथा शबीह लगाने में आप एक हैं।

§ ५४. **ठाकुर शैली**—स्वनामधन्य स्व० हैवेल (उस समय गवर्नमेंट आर्ट स्कूल, कलकत्ता के अध्यक्ष) की उद्भावना से आचार्य अवनींद्रनाथ ठाकुर के हाथों एक नवीन शैली—**ठाकुरशैली**—का निर्माण हुआ (लग० १६०३ ई०)।

वस्तुतः यह प्राचीन चित्रकला का पुनरुत्थान है, किंतु इसके महान् जन्मदाता अवनींद्र बाबू में, संसार भर की किसी भी चित्रकला की विशेषता को अपनाकर पूर्णतः भारतीय बना लेने की अप्रतिम क्षमता है। फलतः **ठाकुर शैली** की पद्धति और अभिव्यक्ति में अजंता की अनुयायिता होते हुए भी भारत की **मुगल, पहाड़ी** आदि शैलियों की तथा चीनी, जापानी और पश्चिमी चित्रकला तक की कितनी ही खूबियाँ इस प्रकार आत्मसात् कर ली गई हैं कि इसका स्वभाव पूर्णतः भारतीय बना है। विस्मृत अतीत से संबंध जोड़ने की जो कामना तीन-चार सौ बरस से हमारे हृदय में लहरा रही थी (§ ४६) वह अब आकर पूरी हुई, क्योंकि अब अपना विगत अंधकारमय नहीं रह गया है।

आरंभ में यह शैली मुख्यतः प्राचीन विषयों को लेकर चली, किंतु अब तो इसका क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया है—अर्वाचीन सामाजिक जीवन तथा प्राकृतिक दृश्यों का भी इसमें सफल अंकन हो रहा है। स्वयं अवनींद्र बाबू के चित्रण-विषयों का क्षेत्र प्रायः सारे संसार को घेरे हुए है।

१—शरत्पूर्णिमा २००० वि० (१९४३ ई०) को यह कलाधर अस्त हो गया।



मोल-भाव

आधुनिक; ठाकुर-शैली

लीजिए कि आप **मुगल शैली** के एकमात्र अवशिष्ट, उस्ताद रामप्रसादजी के दर्शन कर चुके हैं।[1]

आपकी प्रकृति बड़ी साधु है और विचारों का दृष्टिकोण दार्शनिक एवं कलात्मक, अर्थात् तात्त्विक; क्योंकि किसी वस्तु का वास्तविक अनुभव करना उसके सौंदर्य का अनुभव करना है, इसी कारण दार्शनिक और कलाकार दोनों ही विचारों में तात्त्विक एकतानता होती है। आपकी उक्तियाँ बड़ी ही चुस्त, मार्मिक और सटीक (निशाने पर बैठनेवाली) होती हैं। भगवान् ने जैसा रस हाथ में दिया है वैसा ही कंठ और तबीयत में भी। आप स्वभाव से कृती और कलाकार हैं। किंतु, समय के फेर से आपको एक दरिद्र शिल्पी का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है।

मुगल शैली के तो आप एकमात्र प्रतिनिधि एवं ज्ञान-भंडार हैं ही, आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी भी है। आपकी मौलिक रचना का एक सुंदर नमूना शिव-तांडव का चित्र है (फलक—२५)। नटराज के प्रशांत मुख-मंडल पर तन्मयता और भाव-मग्नता का आत्यंतिक सुख खूब दिखाया है। शिव-चित्रण आपका प्रिय विषय है। आपके उमरखय्याम-चित्रों को डा० कुमारस्वामी ने, यूरप के प्रसिद्ध चित्रकार ब्यूलैक के चित्रों से विशिष्ट माना है। प्रकृति-तथा शबीह लगाने में आप एक हैं।

§ ५४. **ठाकुर शैली**—स्वनामधन्य स्व० हैवेल (उस समय गवर्नमेंट आर्ट स्कूल, कलकत्ता के अध्यक्ष) की उद्भावना से आचार्य अवनींद्रनाथ ठाकुर के हाथों एक नवीन शैली—**ठाकुरशैली**—का निर्माण हुआ (लग० १९०३ ई०)।

वस्तुतः यह प्राचीन चित्रकला का पुनरुत्थान है, किंतु इसके महान् जन्मदाता अवनींद्र बाबू में, संसार भर की किसी भी चित्रकला की विशेषता को अपनाकर पूर्णतः भारतीय बना लेने की अप्रतिम क्षमता है। फलतः **ठाकुर शैली** की पद्धति और अभिव्यक्ति में अजंता की अनुयायिता होते हुए भी भारत की **मुगल, पहाड़ी** आदि शैलियों की तथा चीनी, जापानी और पश्चिमी चित्रकला तक की कितनी ही खूबियाँ इस प्रकार आत्मसात् कर ली गई हैं कि इसका स्वभाव पूर्णतः भारतीय बना है। विस्मृत अतीत से संबंध जोड़ने की जो कामना तीन-चार सौ बरस से हमारे हृदय में लहरा रही थी (§ ४६) वह अब आकर पूरी हुई, क्योंकि अब अपना विगत अंधकारमय नहीं रह गया है।

आरंभ में यह शैली मुख्यतः प्राचीन विषयों को लेकर चली, किंतु अब तो इसका क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया है—अर्वाचीन सामाजिक जीवन तथा प्राकृतिक दृश्यों का भी इसमें सफल अंकन हो रहा है। स्वयं अवनींद्र बाबू के चित्रण-विषयों का क्षेत्र प्रायः सारे संसार को घेरे हुए है।

१—शरत्पूर्णिमा २००० वि० (१९४३ ई०) को यह कलाधर अस्त हो गया।



मोल-भाव
आधुनिक; ठाकुर-शैली

आचार्य अवनींद्रनाथ का प्राचीन विषयवाला एक चित्र यहाँ दिया जाता है (फलक—२६१)। तिष्यरक्षिता अशोक की रानी थी। जब सम्राट् का अधिकांश समय पूजा-उपासना में बीतने लगा तो रानी को बोधिद्रुम से सौतिया डाह हुआ और उसने द्रुम को नष्ट कर डाला। इस चित्र में वह उसे कैसी कुटिल और कर्कश दृष्टि से देख रही है।

आचार्य के अग्रज स्व० गगनेंद्रनाथ ठाकुर ने अंकन-विधान और चित्रित विषयों के विन्यास में कितने ही अनोखे एवं सफल प्रयोग किए। उनका एक आलेखन है जो छोटे-छोटे त्रिकोणों और चतुष्कोणों का समूह मात्र है। इसका विषय है—**हास**। अमूर्त हास को यह मूर्तरूप देना उन्हीं सरीखे कलाकार का काम था, जैसे कालिदास ने मेघदूत में कैलास के प्रकांड शिखर द्वारा शिव की अट्टहास-राशि का दर्शन कराया है।

गगनेंद्र बाबू के प्राकृतिक दृश्यों के चित्र भी अपूर्व हैं। उनके व्यंग्य चित्रों में वह करुणा ओत-प्रोत है, जिसका कारण है अपने देश की—धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विपत्ति तथा अधःपतन, जिनसे प्रत्येक सहृदय विगलित हो उठता है।

विश्व-कवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने भी चित्र बनाये हैं। **ठाकुर शैली** के अंतर्गत होते हुए भी उनके छायावादी चित्रों का एक अलग स्थान है। इनकी सूक्ष्म व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं कि ये कवि के अव्यक्त मन में तरंगित होनेवाले तरह तरह के आकारों के अंकन हैं। और, अवनी बाबू के पट्ट-शिष्य महान् कलाकार श्री नंदलाल बोस की व्यापक सहानुभूति, कल्पना की उड़ान तथा अंकन विधान की बहुमुखी प्रतिभा तो सारे भारत में अद्वितीय है। उनकी रहनी संतों की है।

इधर लोक-कला को लेकर कुछ प्रयोग किए गए हैं। ऐसे प्रयोक्ताओं में यामिनी राय प्रमुख हैं। उन्होंने बाकायदा चित्रकारी सीखकर स्वेच्छया यह मार्ग ग्रहण किया है। कुछ लोग कहते हैं कि समय ने उन्हें इस ओर प्रवृत्त किया है। कुछ लोग समझते हैं, एक नया पथ प्रवर्तन करने की भावना से उन्होंने ऐसा किया है। जो हो उनमें अभिभाशक्ति (डाइरेक्टनेस) और जोर है जो आदिम (प्रिमिटिव) कला की सूत्रात्मा है। इस कला द्वारा अभिव्यक्ति का कितना क्षेत्र आक्रोड़ हो सकता है—यह एक गंभीर प्रश्न है। संभवतः वह क्षेत्र बहुत संकुचित होगा और उसका स्तर बहुत सामान्य।

आचार्य अवनींद्रनाथ का शिष्य-प्रशिष्य परिवार बहुत बड़ा है। उसके द्वारा **ठाकुर शैली** समूचे देश में फैल चुकी है और राष्ट्रीय कला के आसन पर आसीन भी हो चुकी है। जिस पद के वह सर्वथा योग्य है। इस उत्थान से विश्वास होता है कि हमारी कला का भविष्य बड़ा समुज्ज्वल है॥

वार्त्तिक

फलक १-२ का उल्लेख § २ पृ० ३ में छूट गया है। पाठक उन्हें यथास्थान सुधार लें।

§ २९ ख, पृ० ५९ पर फलक ८ ग के स्थान पर फलक ९ पढ़िये।

मुख चित्र ही से फलक * २ अभिप्रेत है।

शब्दानुक्रमणी

* = चित्र (चि०) = चित्रकार



फलक—१ मोअन जो दड़ो के मिट्टी के बर्तनों पर की रंगाई
(वार्तिक द्रष्टव्य)



फलक—२ हड़पा के रंगे मटकों पर के तरह
(वार्तिक द्रष्टव्य)



फलक--३ दिव्य गायक
गुप्त-काल, अजंता; १७वीं गुफा



फलक--४ वेस्संतर जातक
गुप्त-काल, अजंता; १७वीं गुफा



फलक--५ माता-पुत्र
गुप्त-काल ; अजंता ; १७वीं गुफा



फलक--६ क प्रेम-निमग्ना
आरंभिक मध्यकाल; अजंता



फलक--६ ख किसी की याद
आरंभिक मध्यकाल; बादामी (बंबई प्रांत)



फलक—७ क बोधिसत्त्व

आरंभिक मध्यकाल; होरिउजी मठ, जापान



फलक—७ ख त्रिमुख महेश्वर

८वीं शती; चीनी तुर्किस्तान



फलक—८ क दो मुनियों का वार्तालाप
१४-१५वीं शती ; अपभ्रंश शैली
(भारत कला-भवन संग्रह)



फलक—८ ख तपोवन के प्रांत में आखेट
१४-१५वीं शती ; अपभ्रंश शैली
(भारत-कला-भवन संग्रह)



१५वीं शती ; अपभ्रंश शैली
(भारत कला-भवन संग्रह)

फलक—८ ग प्रेम का आकर्षण

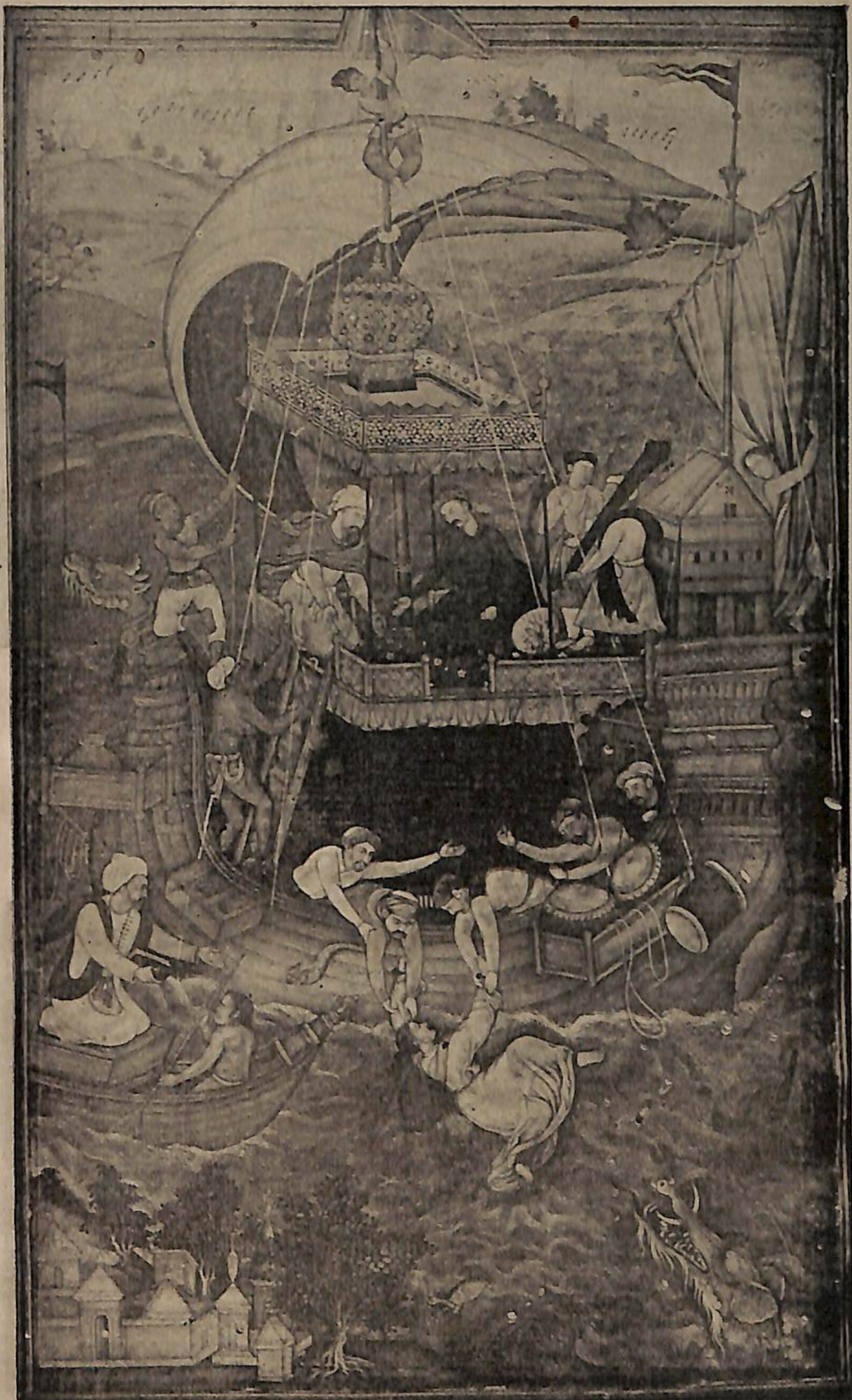


फलक—९ दीपक राग

(वार्तिक द्रष्टव्य)

१७वीं शती का आरंभ ; राजस्थानी शैली

(भारत-कला-भवन संग्रह)



फलक—१०　　　अनवार-सुहैली का एक चित्रित पृष्ठ
१६वीं शती का अंत; अकबरकालीन मुगल शैली



फलक—११ बाबर की शबीह

१६वीं शती; अकबरकालीन

(भारत-कला-भवन)



फलक—१२ अजमेर में भंडारा

१७वीं शती; जहाँगीर-कालीन मुगल शैली

प्रिंस आव वेल्स संग्रहालय, मुंबई



फलक--१३ शिकारी बाज पक्षी
१७वीं शती; जहाँगीर-कालीन मुगल शैली
ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन



फलक—१४ धनाश्री रागिनी
१७वीं शती ; राजस्थानी शैली
म्युनिसिपल संग्रहालय, इलाहाबाद



फलक—१५ वसंत रागिनी
१७वीं शती ; राजस्थानी शैली
डॉ० मोतीचंद्र संग्रह



फलक—१६ शबीह
१७वीं शती; दकनी शैली
(भारत-कला-भवन संग्रह)



फलक—१७ मेघ राग
१६वीं शती; दकनी शैली
(भारत-कला-भवन संग्रह)



फलक—१८

शाहजहाँ नाव पर
१७वीं शती का मध्य; शाहजहाँ-कालीन मुगल शैली
श्री सीताराम साह संग्रह, बनारस



फलक—१९ देवी मरियम और शिशु ईसा
१७-१८वीं शती; मुगल
(भारत-कला-भवन संग्रह)



१८वीं शती; पिछली मुगल शैली (भारत-कला-भवन सग्रह)

फलक--२० गान समाज



१८वीं शती; राजस्थानी शैली (बूंदी)

फलक—२१ आखेट



फलक—२२

कालीय दमन
१८वीं शती; पहाड़ी शैली
(भारत-कला-भवन संग्रह)



फलक—२३ शिव-परिवार
१८वीं शती; पहाड़ी शैली
(भारत-कला-भवन संग्रह)



फलक—२४ मस्त फकीर
१८वीं शती; पहाड़ी शैली
(भारत-कला-भवन संग्रह)



फलक--२५ तांडव

आधुनिक; चित्रकार उस्ताद रामप्रसाद

(भारत-कला-भवन संग्रह)



फलक--२६ तिष्यरक्षिता की डाह

आधुनिक; ठाकुर शैली; चित्रकार आचार्य अवनींद्रनाथ ठाकुर



फलक--२७ नारी

आधुनिक; चित्रकार श्री यामिनी राय

भारत की चित्रकला

राय कृष्णदास

भारती भंडार

लीडर प्रेस, प्रयाग